लालबहादुर शास्त्री

(एक महान् नेता की जीवनी)

महावीर अधिकारी



राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

अपनी बात

यह पुस्तक स्व० लालबहादुर शास्त्री के जीवनकाल में ही लिखी गई थी परन्तु उनकी ताशकंद-यात्रा के परिणाम भी इसमें सम्मिलित करने की अपनी इच्छा पूरी करते हुए, उनकी मृत्यु के बाद ही प्रकाशित हो सकी। क्योंकि यह विश्वास करना कठिन था कि उनकी ताशकंद-यात्रा इस देश की सेवा में उनका अन्तिम सीमाचिह्न बन जाएगी। इन्हीं शब्दों के साथ दिए गए अपने प्राक्कथन में मैंने यह अभिलाषा प्रकट की कि यदि किसी दिन अपने चरितनायक के अधिक निकट आने का अवसर मिला तो यह पूर्वाभ्यास व्यापक अध्ययन का रूप धारण कर सकेगा। यह अवसर उन्होंने नहीं दिया। वे केवल यह अभिमान पीछे छोड़ गए कि यह व्यक्ति जो किसी नज़र से सामनेवाले रास्ते को देखता है, बिना ठोकर खाए चलता है और सही मंज़िल तक पहुंचता है। उनके प्रिय स्मरण को वर्तमान से भूतकाल के क्रियापदों से जोड़ने में कलम कांपती रही है, दिल में टीस पैदा होती रही है, लेकिन उनके सभी प्रशंसकों के समान मन में एक गहरी निष्ठा भी उत्पन्न होती रही है कि लालबहादुर शास्त्री के प्रति छोटे या बड़े जिस किसीने भी विश्वास प्रकट किया, उसे उन्होंने कभी झूठा साबित नहीं होने दिया।

वे एक महान् चरितनायक थे, उन्होंने आत्मोत्सर्ग के चिर ज्वलन्त उदाहरण से यह सिद्ध कर दिया है।

प्रधानमन्त्री पद पर उनकी नियुक्ति होने के समय उनकी माता श्री रामदुलारी देवी ने कहा था—"मैं लालबहादुर से चाहती हूं कि चाहे जान चली जाए, मगर देश बना रहे।"

इस देश में सच्चे पुत्र से यह उम्मीद की जाती है कि वह जीवनपर्यन्त अपनी माता के दूध की आन रखेगा। लालबहादुर ने अपनी माता की उम्मीदों को पूरा किया और भारत माता की उम्मीदों को भी पूरा किया।

उनकी जान भले ही चली गई, लेकिन उन्होंने देश को बचा लिया। पाकिस्तान के रूप में अंग्रेज़ भारतमाता की पवित्र देह में एक गम्भीर ज़ख्म छोड़ गया था। इस ज़ख्म की ज्यों-ज्यों दवा की गई, वह बढ़ता ही गया। आखिरकार सन् 1965 का वह दिन भी आया जब पाकिस्तान ने चीन की शह पाकर भारत पर आक्रमण कर दिया। लालबहादुर शास्त्री ने गीता के अनन्य उपासक के रूप में यह सिद्ध किया कि "वे लोग धन्य हैं जिन्हें सत्य की रक्षा के लिए युद्ध करने का अवसर मिलता है, जो स्वर्ग के लिए सीधा मार्ग है। अगर तुम सत्य के लिए युद्ध नहीं करोगे तो अपना कर्त्तव्य छोड़कर और बुराई ग्रहण कर पाप के भागी बनोगे।" यह उद्धरण भगवद्-गीता का है। शास्त्रीजी के जीवन को भगवद्गीता के पृष्ठों से उठाकर इस पुण्य भूमि पर रखा गया था—यह बात कही जाए तो अक्षरशः सत्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। गांधीजी के शब्दों में उन्होंने चाहा कि "भारत अपनी इज्ज़त की रक्षा के लिए, बुज़दिली के साथ अपनी बेइज़्ज़ती का बेबस साक्षी बने रहने के बजाय हथियार उठा ले···।" नेहरू ने भी कहा था, "लड़ाइयां भयंकर होती हैं। उनसे लाखों लोग मरते हैं, बड़ा विनाश होता है। बावजूद इसके सभी एक दिन मरते हैं, और अगर किसी महान् उद्देश्य को पूरा करने में हमें समय से कुछ दिन पहले मरना पड़े तो यह दुःख की बात नहीं है।" शास्त्री जी से अधिक इस कथन को किसने चरितार्थ किया !

निश्चय ही इस देश ने अपने परम नायक लालबहादुर के वियोग के गहन दुःख को एक राष्ट्रीय गौरव के रूप में ग्रहण कर लिया है। लालबहादुरजी ने युद्ध के क्षेत्र में कभी भारतमाता की कोख को लजानेवाला आचरण नहीं किया। इस वामनावतार की ललकार मास्को और वाशिंगटन तक पहुंची। दुनिया की बड़ी-बड़ी राजधानियों के सिंहासन डोल उठे। शान्ति के उपासक के चेहरे पर खेलने वाले रौद्रभाव को देखकर उन सभी क्षेत्रों से शान्ति की पुकार आने लगी, जो आज तक मुंह में राम बगल में छुरी लेकर बातें करते थे। उनके निधन के अवसर पर अमरीका के राष्ट्रपति ने कहा था कि "उनके जाने के बाद दुनिया जीने के लिए बहुत हकीर मालूम पड़ती है।" जब कोई चमकता हुआ सितारा टूटता है, तो दुनिया

की आंखों के सामने अंधेरा छा जाता है। भारत की आजादी के बाद सबसे पहले यह सितारा महात्मा गांधी के रूप में टूटा था, फिर जवाहरलाल नेहरू और अन्त में लालबहादुर शास्त्री के रूप में। लालबहादुर शास्त्री के जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि वे अन्त तक धीरज से काम लेते थे। पाकिस्तान के साथ कच्छ का समझौता करके उन्होंने शान्ति के प्रति अपनी सन्निष्ठा का परिचय दिया। यही कारण था कि पाकिस्तान के साथ युद्ध करना जब जरूरी हो गया तो सारा देश उनके साथ हो गया। भारत-पाक युद्ध की दूरव्यापी प्रतिक्रियाओं को समझकर जब उनके लिए रूसी प्रधानमंत्री का बुलावा आया तो वे ताशकन्द गए।

ताशकन्द समझौता यू तो सारे विश्व की राजनीति के लिए एक प्रेरक सीमाचिह्न है, लेकिन भारत और पाकिस्तान के लिए तो यह एक युगान्तरकारी समझौता है। मजहबी नफरत के आधार पर बने पाकिस्तान के नेताओं ने पिछले अठारह वर्ष में भारत के प्रति जेहाद का रुख धारण कर लिया। भारतीय जनता ने कठिन से कठिन संकट की घड़ी में भी अपनी धर्मनिरपेक्ष नीति को नहीं छोड़ा। लेकिन भारत की सद्भावना के बावजूद तब तक कोई सुपरिणाम निकलने वाला नहीं था जब तक पाकिस्तानी नेताओं का हृदय-परिवर्तन नहीं होता। इस महान् कार्य के लिए गांधीजी शहीद हुए। कहना पड़ेगा कि जिस कार्य की शुरुआत गांधीजी की शहादत से हुई, उसे पूरा करने का ऐतिहासिक श्रेय लालबहादुर शास्त्री को मिला। पाकिस्तान के दीर्घकालीन विश्वासघात और घृणा से भरे आचरण में परिवर्तन करना इतना मुश्किल समझा जाने लगा था कि बड़े-बड़े धैर्यवान् विचारकों ने भी इस प्रकार की उम्मीदें करना छोड़-सा दिया था।

पाकिस्तान के राष्ट्रपति मोहम्मद अय्यूब खां ने लालबहादुर शास्त्री की लौह सहनशक्ति को देखा था। उन्होंने शास्त्रीजी को मैदान पर जमता दिया था। उनके मन पर शास्त्रीजी की मानवीयता का प्रभाव पड़ा। भारत-पाकिस्तान के बीच का वैर जो कभी न मिटनेवाला प्रतीत होता था, यह इस महामानव ने अनायास समाप्त कर दिया।

शास्त्रीजी की महत्ता को प्रकट करना, शब्दों की शक्ति से बाहर है।

अमरीका के उपराष्ट्रपति ह्यूवर्ट हम्फ्रे ने उनके प्रति श्रद्धांजलि में वाशिंगटन में चर्च में की गई प्रार्थना के अवसर पर भाषण करते हुए उन्हें 'मानव-जाति के कल्याण के लिए प्राण अर्पित करनेवाला मानव-जाति का वन्धु' वताया।

आपने कहा था कि भारत के एक दूरदृष्टि के पर्यवेक्षक ने प्रधानमंत्री श्री शास्त्री को 'संकट के क्षण में प्रकाश देनेवाला मिट्टी का दीप' वताया है।

श्री हम्फ्रे ने कहा कि यह कल्पना महान् भारतीय कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचना से ली गई है। रवीन्द्र ने अपनी एक कविता में कहा है कि जव किसीने पूछा कि सूरज डूवने के वाद जव अन्धकार फैल जाएगा तव क्या होगा, तव सभी चुप हो गए लेकिन मिट्टी के एक दीप ने धीमी आवाज में कहा—"मुझे जला दो, मुझसे जितना भी हो सकेगा मैं करूंगा।"

यह वात मेरी कल्पना के वाहर थी कि जिस व्यक्ति के जीवन को मैं प्रस्तुत करना चाहता हूं, वह थोड़े ही दिन में दुनिया के महान् नेताओं का भी आराध्य वन जाएगा।

जिस समय मेरे सामने यह प्रस्ताव आया था कि तत्कालीन प्रधानमन्त्री की जीवनी लिखूं, तो मेरे मन में अधिक उत्साह नहीं आया। एक वात यह थी कि मूल प्रवृत्ति से मैं एक वीरपूजक हूं और मेरे मित्र गवाह हैं कि मैं फ्री स्टाइल कुश्तियों से लेकर वाक्सिंग, क्रिकेट, फुटवाल और घुड़दौड़ देखने का शौकीन हूं। वुल-फाइट वाली कोई फिल्म मैं विना देखे नहीं छोड़ता। यदि स्पेन में पैदा हुआ होता, तो मैं आज जो कुछ भी हूं, उसकी वजाय वुल-फाइटर होता और शायद उसे ज़्यादा पसन्द करता। ये कुछ वातें अपने निवेदन के रूप में कहना आत्माख्यान नहीं, रुचि का परिचय मात्र है। अन्दर से उत्साह का न आना स्वाभाविक था।

मैंने लालवहादुर जी को निकट से नहीं देखा था। जब देखा तो पाया कि मुस्कराता हुआ चेहरा, निरभिमान महत्ता के भाव से रंगी आंखें, छोटा कद, लेकिन मजवूत पिंडलियां, जमीन पर पुख्तगी से पैर रखने वाले, अपने श्रोताओं को किसी न किसी तरह मोह लेने वाले। मुझे कभी यह कल्पना

नहीं हुई कि वे एक दिन भारत के प्रधानमन्त्री बनेंगे, फिर भी वे प्रधान-मंत्री बने। इतने बड़े यथार्थ के सामने गहरे संस्कारों में भी आन्दोलन हो जाता है। मैंने उनके सम्पूर्ण जीवन की अत्यन्त अल्पज्ञात घटनाओं का अध्ययन किया और पाया कि यह व्यक्ति लालबहादुर शास्त्री भारतीय इतिहास के एक अध्याय का पहला वर्क है। वह प्रधानमंत्री न बनता तो यह अध्याय कोरा रह जाता। भारतीय नीतिशास्त्र अचरितार्थ रह जाता। जो कुछ जानकारी प्राप्त करना संभव हुआ, उसीके आधार पर मैंने कुछ लिखा जिसे जीवनी कहिए तो ठीक, लेकिन मेरे विचार से यह एक श्रद्धांजलि ही है।

इस सन्दर्भ में मैं अपने द्वारा एक अनूदित उपन्यास के चरितनायक का उल्लेख भी करना चाहता हूं। नोबेल पुरस्कार विजेता जर्मन लेखक हरमन हेस (दिवंगत) के भारतीय भाव, ज्ञान और दर्शन की भूमि पर लिखे गए उपन्यास 'सिद्धार्थ' का नायक सिद्धार्थ संसार का अनुभव प्राप्त करने के लिए एक बड़े सौदागर के यहां काम मांगने जाता है। सौदागर उससे सवाल करता है—आपकी योग्यता क्या है?

गौतम बुद्ध का समकालीन यह ब्राह्मणपुत्र साधना की उच्चतम उपलब्धियों को निस्सार मानता हुआ पुनः संसार में प्रवृत्त हुआ है। वह उत्तर देता है :

मैं विचार कर सकता हूं।
मैं भूखा रह सकता हूं।
मैं प्रतीक्षा कर सकता हूं।

सौदागर चकित हुआ था। सभी लोग ऐसी बातें सुनकर चकित होते हैं, लेकिन योग्यता के कागजी प्रमाणों के बावजूद सभी यह जान लेते हैं कि साधना के किसी क्षेत्र में इन योग्यताओं के बिना सब कुछ दम्भ का थोथा घोष बनकर रह जाता है। इनमें से एक भी योग्यता रखने वाला व्यक्ति जीवन-यात्रा में बहुत आगे जाता है और जिसमें ये तीनों योग्यताएं हों, वह सिद्धार्थ बनता है।

लालबहादुर शास्त्री के बारे में इन शब्दों के लिखते समय मुझे भारतीय आत्मा के अपने अन्तर में मूर्त दर्शन हुए। हमारी उन जीवन-

मान्यताओं को, जो नीति-ग्रंथों के जर्जर पृष्ठों पर अंकित होकर पुस्तकालयों में आजीवन कारावास की सज़ा भोगती दीख पड़ती हैं, इन नन्हे-से आदमी ने सड़क पर जीते-जागते रूप में हमारे बीच फिर जिन्दा कर दिया। सैद्धान्तिक ऐश्वर्य से युक्त अतीत को जीवन्त कर दिया। अब तक हमने यही सुना और जाना था कि ज़माना बड़ा गलाकाट प्रतिद्वन्द्विता का है, कि यहां बड़े छल-छद्म से सत्ता मुट्ठी में आती है और कायम रखी जाती है, कि यह युग भावुकता का नहीं, उद्भट बौद्धिक उपलब्धियों का है, एवं संघर्ष का है जहां अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए न जाने क्या-क्या करना पड़ता है और जो नहीं करता, वह सफयेहस्ती से मिट जाता है।

यही क्यों! समाज में ऐसे आदमियों की संख्या बहुत बड़ी है, जो यह मानकर चलते हैं कि तरक्की करने के लिए, रुपया-पैसा, साधन और सुविधा दरकार होती है। तरक्की करना उन्हींके भाग्य में लिखा है, जो खाते-पीते घरों में जन्म लेते हैं। इन बातों में इतनी बात स्वीकार की जा सकती है कि साधन-सुविधाओं के बीच आगे बढ़ना आसान हो जाता है। परन्तु लालबहादुर शास्त्री के जीवन पर एक नज़र डालिए। ऐसा लगता है कि जैसे ऊपर उठने के लिए साधन-सुविधाएं अभिशाप हों। जो लोग प्रयास करने से पहले ही साहस छोड़ देते हैं, उनके लिए यह जीवनी महान् प्रेरणा का स्रोत बन सकती है।

हमारा युग वैज्ञानिक विकास के क्षेत्र में आशातीत सफलताएं प्राप्त कर रहा है। जीवन-हितैषी प्रवृत्तियों में भी इतना विकास हुआ और हो रहा है कि यह विश्वास करने का आश्वासन मिलता है कि शायद एक दिन इन्सान मौत के ऊपर कुदरत हासिल कर ले, लेकिन अजीबोगरीब बात यह है कि आपाधापी भी उतनी-ही बढ़ रही है। अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए संघर्ष करता-करता आदमी दूसरे के अस्तित्व को मिटाने में लग गया है। यह स्थिति प्रजातीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सभी स्तरों पर बढ़ती हुई प्रतीत होती है। कहा नहीं जा सकता कि कौन-सी विसंगतियों के कारण मनुष्य विभ्रांत हुआ, परन्तु यह विभ्रांति सर्वत्र व्याप्त है, समाज का कोई कोना उससे अछूता नहीं। भिन्न राजनीतिक दलों के

बीच विरोध हो, यह बात थोड़ी-बहुत समझ में आती है, लेकिन आज तो एक ही दल के अनेक नेता पारस्परिक विग्रह में जुटे हैं। अपनी महान् प्रतिभा, विपुल साधन-सम्पन्नता के सहारे आदमी 'सेवा' के अधिकार को भी अपने लिए सुरक्षित कर लेने के विचार से व्याकुल है। सूद-दर-सूद के हिसाब से समाज मे मारक प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिल रहा है। क्या हम वास्तव में इस विश्वास के प्रति सचेत हैं कि गलत साधन से गलत ही उद्देश्य की पूर्ति होती है ? क्या हमने इस नारे के थोथेपन से अपने को मुक्त कर लिया है कि साध्य की उपलब्धि से ही साधन की सार्थकता बनती है ? हालांकि दुनिया के पिछले चालीस वर्ष के इतिहास ने यह साबित कर दिया है कि साधन का श्रेय ही साध्य का प्रेय है। फिर भी लोगों ने यथार्थ के प्रति आंखें मूदी हुई हैं।

लालबहादुर शास्त्री का जीवन इस बात का साक्षी है जिसने मूक रहकर सेवा की है, उसकी तरफ भी लोगो का ध्यान जाता है; जिसने कभी कुछ प्राप्त करने की इच्छा नही की, दुनिया अपना सर्वस्व उसके हाथो सौंपकर आश्वस्त हो जाना चाहती है; जो अपने को किसीसे भी बड़ा नही मानता, समाज उसे बलपूर्वक सबसे ऊचे आसन पर बैठाना चाहता है। शास्त्रीजी के जीवन मे अहिंसा का मन्त्र सक्रिय, स्पन्दनयुक्त और परिवर्तनकारी बन रहा है। मुझे हर्ष के साथ ऐसा अनुभव हुआ कि मेरे मन के आदर्श लोकनायक के तीनो ही गुण उनमें विद्यमान हैं। वे कष्ट सह सके हैं, वे स्वयं ही नहीं सपरिवार भूखे रह सके हैं, और प्रतीक्षा करने की उन्होंने इन्तहा करके छोड़ी है। यह सही बात है कि भूखे रह सकना सबके बस की बात नही। लोग अक्सर कहते सुने जाते हैं कि सारी दुनिया की तकलीफें झेलने का ठेका उन्होंने ही नहीं लिया है। प्रतीक्षा के स्थान पर तो सुपरिणाम के फौरन सामने न आने पर काम की हड़ताल करने का सिद्धात संभवतः समाज की स्वीकृति पा चुका है। परन्तु यह भी सही है कि प्रतीक्षा न कर सकने वाला इन्सान अपघाती बनता है। यह बात दूसरी है कि वह किसका अपघात करता है, अपना, समाज का, मानवता का या सत्य का। जो जितना करता है, उसका परिणाम इस ... मे भोगता है। परिणाम से मुक्ति नही।

इस जीवनी में शास्त्री जी के जीवन की मूल स्थापनाओं की खोज करने की कोशिश की गई है। उनके बारे में अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। उन्होंने अपने बारे में शायद कुछ भी नहीं कहा है। कहने की अपेक्षा उन्हें करना ही अधिक पड़ा है। कर्म संभवतः जीवन का सर्वाधिक विश्वसनीय सबूत होता है। तथापि कर्म के पीछे की प्रेरणाएं, संकल्प, निष्ठा और मान्यताएं भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण होती हैं। वे कर्म के परिणामों द्वारा दूसरों के संस्कारों में प्रवेश करती हैं, फलित होती हैं, कृतार्थ होती हैं और अन्त में एक उज्ज्वल परम्परा का रूप धारण करती हैं, किसी भी जीवनी को प्रस्तुत करते समय यदि इन बातों का ध्यान रखा जा सके तो जीवनी प्रस्तुत करने का उद्देश्य पूरा होता है। शास्त्रीजी की लोक-सेवा अनेक उपलब्धियों से मंडित हुई है।

सामाजिक कार्यकर्ता के जीवन का एक और विरोधाभास होता है। जो व्यक्ति तात्कालिक चमत्कार उपस्थित नहीं कर सकता, लोगों की आंखें उसकी तरफ से फिरने लगती हैं। जो चमत्कार उपस्थित कर सकता है, उसे मरीचिका प्राप्त होने लगती है, लेकिन यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि शास्त्रीजी तात्कालिक चमत्कार उपस्थित करने के व्यामोह में कभी नहीं फंसे। उन्होंने पद छोड़ दिया, लेकिन मर्यादा को कभी नहीं छोड़ा। उनका जीवन ऐसे लोगों की पीड़ाओं के लिए शफा देनेवाले मरहम का काम करेगा जिन्होंने अकर्मण्यता से उत्पन्न अनेक कुण्ठाओं से अपने-आपको जर्जर बना लिया है।

शास्त्रीजी की एक विशेषता की ओर संकेत न करना उनके व्यक्तित्व के महत्त्वपूर्ण पहलू को नजरअन्दाज करना होगा। राजनीति में उन्होंने किसी भी मोड़ पर सच्चाई को नहीं छोड़ा। आज की दुनिया में सच्चाई को कूटनीति का रूप देनेवाले वे प्रथम राजनीतिज्ञ थे, जिनका स्थान गांधी और नेहरू के बाद की पीढ़ी में सर्वोपरि सुरक्षित था। यदि उन्हें लड़ना था तो वे कहते कि उन्हें लड़ना है। यदि उन्हें लड़ना नहीं था तो वे यह कहते कि उन्हें नहीं लड़ना है। उनके माध्यम से भारत ने अपनी आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों के प्रति विश्वसनीयता सम्पन्न की।

इस लघु पुस्तक के लेखन के दौरान अनेक अवसरों पर ऐसा अनुभव

हुआ कि यदि चरितनायक के आन्तरिक व्यक्तित्व की अधिक अंतरंग झांकी प्रस्तुत की जा सकती तो लेखनी अधिक कृतकृत्य हो सकती थी। अतः इस पुस्तक में संगृहीत विचारों को मैं एक बड़ी पुस्तक की भूमिका या पूर्वाभास ही मानता हूं। देश के कामों से फुर्सत न पा सकनेवाली विभूतियों के लिए जीवनीकारों को उपकृत करना संभव नहीं हो पाता। वैसे भी हमारे देश के महापुरुषों की यह परम्परा रही है कि अवकाश के क्षणों में ही वे रचनात्मक साहित्य का साधन बन पाते हैं। पहले ऐसा अवकाश जेल-यात्राओं के दौरान उन्हें मिल जाता था। इस दृष्टि से शायद जेल-यात्रा अधिक उपयोगी थी। हालांकि दिन में अठारह से बीस घण्टे तक कर्त्तव्य के अधीन रहना भी कारावास से कम नहीं, परन्तु यह जीवन देने ही देने का है, उससे ग्रहण करने के लिए ऐच्छिक अवकाश ग्रहण करने की परम्परा कायम हो तो कर्म के साथ चिंतन भी स्थापित हो।

इस पुस्तक में उल्लिखित कुछ स्थापनाएं यथार्थ से बेमेल भी हो सकती हैं। उनके पीछे जानकारी का अभाव भले ही हो, वह सद्भावना से हीन नहीं हैं। पूरी पुस्तक एक संघर्षशील व्यक्ति के जीवन की एक झांकी मात्र है। यदि पढ़नेवाले इन भावनाओं के साथ एकाकार होने की प्रेरणा ग्रहण कर सकें, तो अपने प्रयास को पुरस्कृत मानने का हर्ष होगा।

—महावीर अधिकारी

लालबहादुर शास्त्री

राजनीतिक उत्तराधिकार

भारत में सदियों से वीर-पूजा की भावना का प्राधान्य रहा है। किसी एक व्यक्ति के गुणो की चर्चा अथवा समालोचना करते समय हमारे मन में यह भावना सर्वोपरि बन जाती रही है कि वह व्यक्ति देखने-भालने में कैसा लगता है। बुद्धि एवं देह की दृष्टि से वह कितना सौभाग्यशाली है। इन गुणों की अभिव्यक्ति में वह कितना आभिजात्य है। सर्वसाधारण की अपेक्षा उसका व्यक्तित्व कितना अधिक आकर्षक और प्रभावी है। व्यक्तित्व के इन लक्षणों के प्रति आश्वस्त होने के उपरान्त ही इस देश का जन-साधारण किसीके प्रति आकृष्ट होता रहा है। यह चलन बहुत पुराना है।

इस परम्परागत कसौटी के अनुसार हमारे चरितनायक लालबहादुर शास्त्री बहुत ऊंचे पद पर बैठने का सौभाग्य संभवतः प्राप्त न कर सकें, तथापि वे इस राष्ट्र के प्रधानमन्त्री-पद पर आसीन हुए जहा केवल संयोग से नहीं पहुंचा जा सकता। हमारी राष्ट्रीय प्रतिभा की नीराजना मे इस घटना को एक नया मोड़ ही स्वीकार किया जाना चाहिए। लालबहादुर शास्त्री के जीवन पर प्रकाश डालते समय भले ही तुलना न की जाए, लेकिन यह देखना अनिवार्य हो जाता है कि वीर-पूजा परम्परा के अन्तर्गत इस देश ने उनके राष्ट्रीय रंगमंच पर अवतरित होने के पूर्व अनेक दिग्गजो को अपने मध्य पाया है, जो ज्ञान, त्याग और साधना की दृष्टि से भारत की महान् सास्कृतिक विरासत के जीवन-प्रतीक थे, जिनकी वाणी मे भारतीय संस्कृति का स्वर मुखरित होता था। लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू भारत के इन तीन महापुरुषो ने भारतीय आत्मा के प्रतीक रूप में ही अपने को प्रस्तुत नही किया, वरन् उनके चिन्तन और साधना से अन्तर्राष्ट्रीय चिन्तन भी प्रभावित हुआ। लालबहादुर के निकट

पूर्ववर्ती महापुरुषों ने जनजीवन के साथ अपना घनिष्ठ रिश्ता कायम किया। वे परम्परागत मानदण्डों के अनुसार एक ऐसे युग के प्रतीक माने जाते रहे, जिसमें आधिभौतिक शक्तियों से मण्डित करके लोकनायकों को महापुरुषों के रूप में स्वीकार किया जाता था।

लालबहादुर शास्त्री के उदय से भारतीय जीवन में एक नये अध्याय का समारम्भ होता है। गांधीजी ने संभवतः यह पूर्वकल्पना की थी कि भारत में वह समय आएगा जब कि दरिद्रनारायण का प्रतीक कोई व्यक्ति समाज के सर्वोपरि पद पर अभिषिक्त होगा। विलक्षण एवं लाखों में एक दीख पड़ने वाले न होने पर भी वे भारतीय आस्था-निष्ठा और विश्वास के पात्र बन सके, जब कि नेहरूजी के उत्तराधिकारी बनने के अनेक उम्मीदवार उनके समकालीन राजनीतिक नेताओं में ऐसे अनेक रहे हैं और आज भी विद्यमान हैं, जिनमें से किसीको भी राष्ट्र का भार संभालने के लिए चुना जा सकता था। नेहरूजी के जीवन के अन्तिम दस वर्षों में यह प्रश्न बार-बार उठाया जाता रहा कि उनके बाद इस देश के शासन की बागडोर कौन संभालेगा। इस प्रश्न का उत्तर नेहरूजी ने स्वयं कभी नहीं दिया।

आश्चर्य की बात है कि सम्पूर्ण राष्ट्र ने भी इस प्रश्न को अनेक रूपों में प्रस्तुत तो किया, लेकिन उसका स्पष्ट उत्तर कहीं से नहीं आया। कारण यह था कि नेहरूजी ने अपने व्यक्तित्व से लगभग चालीस वर्षों तक राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को अभिभूत रखा। अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध संघर्ष के लम्बे दौर में समूचे राष्ट्र ने अनायास ही अपने भावी राष्ट्रनायक की ऐसी प्रतिमा बना ली थी, कि वह अंग्रेजों की तरह उनकी भाषा बोलेगा, वेश-भूषा, खान-पान, रहन-सहन, चिन्तन और सार्वजनिक जीवन में उन्हींके समान अपने को प्रस्तुत करेगा। हालांकि गांधीजी ने इस प्रतिमा के स्थान पर भारतीयता से मण्डित प्रतिमा की स्थापना की और जवाहरलाल नेहरू ने भी भरसक प्रयास किया कि गांधीजी की परम्परा कायम रहे लेकिन सन् 1930 के बाद का भारत नेहरू के रंग में गहरा रंगा गया। यह युग भारतीय भावभूमि पर पश्चिम के विचारों के रोपण का प्रतीक बना। यह संयोग की बात है कि जवाहरलाल नेहरू का व्यक्तित्व ऐसी ऐतिहासिक परिस्थितियों में विकसित हुआ जो सभी दृष्टियों से असामान्य था। एक

समृद्ध परिवार में जन्म लेने और विलायत में जाकर अपने हुक्मरान के बीच रहकर उच्च शिक्षा प्राप्त करने का मौका उन्हें मिला था। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब कि दुनिया मार्क्सवाद के ऐतिहासिक वैज्ञानिक-राजनीतिक दर्शन को स्वीकार करके एक नवीन क्रान्तिकारी युग में प्रवेश कर रही थी, जवाहरलाल नेहरू को इस नवीन क्रान्ति के महान् उन्नायकों के व्यक्तिगत सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ था। चीन, रूस और यूरोपीय महाद्वीप के अन्यान्य देशों में क्रान्ति का श्रीगणेश करनेवाले महान् नेताओं के सम्पर्क में आने और नई मान्यताओं पर अपना अभिमत देने के चुनौतियों से भरे हुए अवसर उनके समक्ष उपस्थित हुए। लाल-बहादुर शास्त्री के पूर्ववर्ती प्रधानमंत्री एक दूसरी दुनिया के चरित्रनायक थे। जवाहरलाल नेहरू के अभिमत भारतीय चिन्तनधारा को ही प्रभावित नहीं करते थे, वरन् उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक मानक व्यक्तित्व स्वीकार किया जाता था। उनके प्रतापी व्यक्तित्व को यह कुदरत हासिल थी कि उनके समर्थन से विदेशों में भी उनकी चिन्तनधारा माननेवाले व्यक्तित्वों का उदय होता था।

बीसवीं सदी का इतिहासकार भारत को नेहरू के माध्यम से इस गौरव से मण्डित करेगा कि इस देश ने अपनी ही आजादी हासिल नहीं की, वरन् दुनिया के अनेक गुलाम देशों को आजाद होने की प्रेरणा और सम्बल भी दिया। यह उनके ही समर्थन का प्रताप था कि युगोस्लाविया के राष्ट्र-पति मार्शल टीटो स्तालिन की लौह अधिनायकशाही शासनतन्त्र के खिलाफ बगावत की आवाज बुलन्द करके भी सही-सलामत रह सके और आगे चल कर नेहरूजी के तटस्थ राजनीति दर्शन के एक महान् स्तम्भ बने। यह नेहरूजी का ही योगदान था कि अरब देशों की राष्ट्रीय प्रतिभा के प्रतीक कर्नल नासिर एक अन्तर्राष्ट्रीय नेता के रूप में उदित हुए। नेहरूजी ने च्यांग काई शेक को जापानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक महान् क्रांतिकारी नेता के रूप में देखा। चीन के राष्ट्रीय संघर्ष के इतिहास में च्यांग काई शेक की स्थिति बदल जाने के बाद उभरती हुई नवीन जनवादी शक्तियों को समर्थन दिया और चीन आज एशिया महाद्वीप के मानचित्र पर एक जब-र्दस्त हकीकत के रूप में मौजूद है। इण्डोनेशिया की आजादी के पीछे नेहरू

का समर्थन था। उसी तरह से अन्यान्य अफ्रो-एशियाई देशों के मुक्ति-संग्राम की सफलता के पीछे नेहरूजी का नैतिक समर्थन था। अपने इस महान् अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व के कारण वे अफ्रो-एशियाई देशों में नवीन क्रान्ति के जनक के रूप में समादृत हुए थे।

इन्हीं असाधारण उपलब्धियों के कारण उन्होंने राष्ट्रीय कल्पना को इतना आच्छादित कर लिया था कि उनके अपने राजनीतिक दल के सहकर्मी तो सम्मोहित थे ही, विरोधी दलों की गतिविधियां भी उन्हीं के समर्थन या विरोध के लिए संचालित होती थीं। नेहरू के चिन्तन की छाया में कांग्रेस के विरोधी दलों के घोषणापत्रों का निर्माण होता था। उनके एक वक्तव्य से विरोधी दलों की हैसियत के बारे में जनता के विचार बन और बिगड़ जाते थे। ऐसे महामहिम व्यक्तित्व के स्वामी जवाहरलाल नेहरू के उत्तराधिकारी के बारे में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में 'नेहरू के बाद कौन' जैसा प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक था।

भारतीय इतिहास में नेहरू का यह योगदान भी आशंका के साथ स्मरण किया जाएगा कि सदियों की गुलामी के कारण विकारयुक्त सामाजिक संगठन को परिष्कृत करने के लिए उन्होंने अधिनायकशाही शासनतंत्र को स्वीकार नहीं किया, हालांकि वे ऐसे सभी गुणों से सम्पन्न थे और भारतीय जनता को उन्हें इस रूप में स्वीकार करने में किसी प्रकार की हिचक नहीं होती। महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में इस देश की स्वतंत्रता का संग्राम पूर्णतः भारतीय परम्परा के अनुसार लड़ा गया। गांधीजी ने इस लम्बे संघर्ष में महान् भारतीय परम्पराओं के पुनर्जागरण में योग दिया। जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पैनी विश्लेषणवादी बौद्धिकता से पश्चिमी देशों के चिन्तन से जनतान्त्रिकता का समावेश किया। इन तत्वों से संयुक्त होकर भारतीय जनता अपने राष्ट्रीय जीवन की विकट से विकट परिस्थिति का सामना करने के लिए किस तरह अनायास सम्पन्न हो रही थी, सम्भवतः इसका अनुमान नेहरू को था और उन्होंने किसी भी अवसर पर आग्रह और चुनौती उपस्थित होने पर भी अपने उत्तराधिकारी का नामांकन नहीं किया।

की झांकी न्यूयार्क के 'सैटरडे रिव्यू' के संपादक नार्मन कजिन्स के साथ उनके वार्तालाप से मिल जाती है। नार्मन कजिन्स ने उनसे यह सवाल पूछा था कि महात्मा गांधी ने आपको अपने उत्तराधिकारी के रूप में चुना था, आपका उत्तराधिकारी कौन होगा? आपको उत्तराधिकारी चुनना चाहिए, क्योंकि हो सकता है कि जनता में यह सामर्थ्य उत्पन्न न हुई हो। लोगों की यह भी धारणा है कि अगर आपने अपना उत्तराधिकारी न चुना तो नेतृत्व के संघर्ष में इस देश की एकता का शीराजा बिखर जाएगा। इन प्रश्नों का उत्तर नेहरूजी ने यह दिया था कि "इस देश की 40 कोटि जनता में अपने लिए एक नेता का चुनाव करने की सामर्थ्य है। उस काम को करने की गुस्ताखी मैं नहीं कर सकता। मैं नहीं समझता कि हमारी जनता अपने नेता का चुनाव करने में विफल हो जाएगी। इस महान कार्य को सम्पन्न करने के लिए इस देश की जनता पूर्ण रूप से समर्थ है। जब कभी ऐसा अवसर आएगा, इस देश की जनता नेता का चुनाव कर सकेगी और यह चुनाव गलत नहीं होगा।"

नेहरूजी की भविष्यवाणी सही साबित हुई। 27 मई, 1964 को नेहरूजी का निधन हुआ। ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे राष्ट्रीय धमनी का स्पन्दन रुक गया है। इस देश की कोटि-कोटि जनता शोक से संतप्त किंकर्तव्यविमूढ़ हो गई थी। इस शोकसंतप्त वातावरण में भी नेहरू के आदर्शों पर चलनेवाली जनता निरस्त नहीं हुई। अपने सबसे प्यारे नेता को खोकर भी उसकी आस्था डगमगाई नहीं। 27 मई के अपराह्नकाल में राष्ट्रपति के फरमान के मुताबिक गुलजारीलाल नन्दा को प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण करने का आमन्त्रण दिया गया। लेकिन प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण करनेवाले नेता की खोज अव्यक्त रूप से समस्त जनता के दिलों में कुलबुलाती रही। यह अनुमान लगाए जाते रहे कि क्या कांग्रेस संसदीय दल गुलजारीलाल नन्दा को ही स्थायी रूप से इस पद के लिए चुनेगा? यह भी प्रश्न था कि कांग्रेस के सबसे वरिष्ठ नेता मोरारजी देसाई के शीश पर यह मुकुट नहीं पहनाया जाएगा? समानान्तर रूप से समाज में

क्षेत्रों में यह फुसफुसाहट हो रही थी कि शायद लालबहादुर शास्त्री ही अंत में इस पद के लिए चुने जाएं। इस सवाल को हल करने में सभी लोगों के दृष्टिकोण अपने-अपने थे, लेकिन नेहरू के प्रति अपार श्रद्धा, निष्ठा और प्रेम के कारण जनता के मस्तिष्क में अनायास यह भावना भर गई थी कि राष्ट्र की बागडोर ऐसे व्यक्ति के हाथ में दी जाए, जिसके प्रति नेहरू के मन में विश्वास की भावना रही हो।

ऐसा नहीं कि नेहरूजी ने अपने जीवनकाल में अपने उत्तराधिकारी के प्रश्न पर विचार ही न किया हो। सम्भवतः उनके मन में अपने दीर्घकालिक समर्थक और राजनीतिक विचारों के सफल उद्घोषक वी० के० कृष्ण मेनन को भी अपना उत्तराधिकारी बनाने का विचार आया हो। सन् 1952 में संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारतीय प्रतिनिधिमंडल के नेता के रूप में उनकी नियुक्ति करके नेहरू जी ने कृष्ण मेनन को भारतीय राजनीतिक जीवन में सहभागी होने का संकल्प धारण किया था। कृष्ण मेनन इस पद पर 1962 तक आसीन रहे। अपनी उत्कट प्रतिभा और शक्तिशाली वाग्मिता द्वारा भारत के आग्नेय व्यक्तित्व का प्रतीक बनकर उन्होंने नेहरूजी की विचारधारा को अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर स्थापित किया। राजनीतिक विचारधारा की दृष्टि से कृष्ण मेनन ही उनके सबसे अधिक निकट थे। संयुक्त राष्ट्रसंघ में उनकी सफलता से प्रेरित होकर नेहरू ने सन् 1956 में कृष्ण मेनन को निर्विभागीय मन्त्री के पद पर नियुक्त किया। 1957 में उन्हें प्रतिरक्षा मंत्री के रूप में कैबिनेट मिनिस्टर का पद प्रदान किया। यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रेरणा कृष्ण मेनन की अपनी थी या वे अपने पृष्ठपोषक प्रधानमन्त्री की आन्तरिक इच्छा की पूर्ति का साधन बने कि भारतीय मस्तिष्क में उन्होंने यह विचार बैठाया कि एक समाजवादी राष्ट्र चीन भारत पर कभी आक्रमण नहीं करेगा। लेकिन पंचशील के घोष और 'हिन्दी चीनी भाई-भाई' की ध्वनि के बीच चीनी नेताओं के दिलों में पनपनेवाली ईर्ष्या, द्वेष और शत्रुता जब 1962 के अक्टूबर मास में आक्रमण के रूप में विस्फुटित हुई तो कृष्ण मेनन के भविष्य का अन्तिम निर्णय हो गया।

कुछ ऐसी ही घटनाओं का परिपाक मोरारजी देसाई के बारे में भी

हुआ। नेहरूजी गलत या सही, अपने इस निष्कर्ष से कभी नहीं हट सके कि भारत को एक समाजवादी राष्ट्र के रूप में विकसित करने की उनकी कल्पना मोरारजी देसाई द्वारा कृतकार्य न हो सकेगी।

कांग्रेस के वामपंथी संसदीय नेताओं ने भरसक यह प्रयास किया कि यह पद गुलजारीलाल नन्दा के ही हाथों में बना रहे। सम्भवतः उनकी मान्यता यह थी कि लालबहादुर शास्त्री नेहरूजी के समाजवादी आदर्शों के साथ न्याय करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। यथार्थ उस धारणा के विपरीत था। सन् 1951 में पुरुषोत्तमदास टण्डन द्वारा कांग्रेस अध्यक्ष-पद का त्याग किए जाने पर जिस समय जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस का अध्यक्ष-पद ग्रहण किया था, उन्होंने लालबहादुर शास्त्री को उत्तर प्रदेश सरकार के गृहमन्त्री पद से हटाकर कांग्रेस के महासचिव के रूप में नियुक्त किया था। तब से लेकर अन्त तक लालबहादुर उनके विश्वासपात्र बने रहे। उनकी कर्तव्यनिष्ठा, त्याग और निस्पृहता का उत्तरोत्तर प्रभाव नेहरूजी पर पड़ता गया। सन् 1952 में ही उन्हें रेलमन्त्री पद पर नियुक्त किया गया और 1956 में अरियालूर रेल दुर्घटना को अपना उत्तरदायित्व मानकर उन्होंने मन्त्रिपद से त्यागपत्र दे दिया। इस अवसर पर नेहरूजी ने उनसे आग्रह किया था कि इस्तीफा न दें क्योंकि वैधानिक रूप से यदि वह ज़िम्मेदारी रेलमन्त्री की थी, तो उससे कम सम्पूर्ण मन्त्रि-मण्डल की नहीं थी। इस्तीफा स्वीकार करते हुए उन्होंने लोकसभा में कहा था, "वे एक ऊंचे आदर्शों वाले निष्ठावान व्यक्ति हैं। उनसे बेहतर साथी और बन्धु की कल्पना करना असम्भव है।"

सन् 1957 के चुनाव के उपरांत नेहरूजी ने उन्हें संचार एवं परिवहन मन्त्री-पद पर नियुक्त किया और सन् 1958 में उन्हें वाणिज्य एवं उद्योग मंत्री के पद पर नियुक्त कर दिया। सन् 1961 में प० गोविन्दवल्लभ पन्त के निधन के उपरान्त गृहमन्त्री पद का भार जिस समय लालबहादुर शास्त्री को सुपुर्द किया गया, उसी समय यह समझ लेना चाहिए था कि उत्तराधिकार का संघर्ष यदि कभी सामने आया तो नेहरूजी की तरजीह उन्हींके पक्ष में होगी।

सन् 1962 में अपनी ऐतिहासिक विलायत-यात्रा पर

रूजी ने यह आदेश दिया था कि सर्वोच्च स्तर पर ध्यान दिए जानेवाले मलों को लालबहादुर शास्त्री के समक्ष पेश किया जाए। केवल उच्च-रीय नीति-सम्बन्धी मामलों के बारे में उनसे पूछताछ की जा सकती है।

बहुधा लोगों ने यह बात कही है कि कोई ज्योतिषी भी आज तक यह र्व घोषणा नहीं कर सका था कि लालबहादुर शास्त्री एक दिन इस देश के प्रधानमंत्री बनेंगे। नेहरू के जीवन के अंतिम दिनों में ज्यों-ज्यों उनकी आत्मनिर्भरता कम होती गई, लालबहादुर उनके निकट से निकटतर आते रहे। 1964 के जनवरी मास में नेहरूजी को पक्षाघात का आक्रमण हुआ। चार महीने पहले ही लालबहादुर शास्त्री कामराज योजना के अधीन अलग हुए। लेकिन पुनः उन्हें निर्विभागीय मन्त्री के स्थान पर नियुक्त किया गया। इसी समय उनके जिम्मे प्रधानमन्त्री एवं विदेशमन्त्री के पद का समस्त भार सौंप दिया गया था। यह भी कहा जाता है कि किसी समय नेहरूजी के मन में यह बात आई थी कि लालबहादुर शास्त्री को लोकसभा के नेता पद पर नियुक्त कर दें, लेकिन कांग्रेस मन्त्रिमंडल में उनका स्थान चौथे दर्जे पर था, अन्य वरिष्ठ नेताओं के विरोध के कारण ऐसा नहीं किया जा सका।

निर्विभागीय मन्त्री पद पर आमन्त्रित करते हुए नेहरूजी ने उनसे कहा था, "मेरा काम करो!" भुवनेश्वर-अधिवेशन के बाद जिस समय नेहरू देहरादून विश्राम से लौट रहे थे तो उन्होंने लालबहादुरजी को प्रधानमन्त्री-सम्मेलन में अपने साथ चलने के लिए तैयार रहने का आदेश दिया था। वह समय नहीं आया, लेकिन नेहरूजी के इन संकेतों से यह स्पष्ट हो गया था कि वे लालबहादुरजी को ही अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे।

उत्तराधिकारी की अल्पकालिक खोज निश्चय ही मुगलकालीन उत्तराधिकार के संघर्ष का रूप धारण कर लेती यदि कांग्रेस-अध्यक्ष त अन्य नेताओं को यह विश्वास होता कि चुनाव के माध्यम से आए उम्मीदवार को जनता स्वीकार कर लेगी। कांग्रेस कार्यसमिति की बै 29 मई को हुई, लेकिन यहां केवल औपचारिक कार्य हुए। दिवंगत प्रध मंत्री का शोक प्रस्ताव स्वीकार किया गया और उनकी महान् राष्ट्रसेव

के लिए कृतज्ञता ज्ञापित की गई।

प्रधानमंत्री के चुनाव के लिए दो दिन बाद फिर बैठक बुलाई गई। इस बैठक में कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों सहित 42 नेता उपस्थित थे, 15 मुख्यमंत्री और 6 नेता विशिष्ट आमन्त्रितों की हैसियत से बुलाए गए थे। इस सभा का अन्तिम निर्णय यही आया कि प्रधानमन्त्री का चुनाव सर्वसम्मति से होना चाहिए। कांग्रेस अध्यक्ष कामराज के ऊपर यह काम सौंपा गया कि वे कांग्रेस नेताओं की सर्वसम्मत राय का पता चलाएं।

इस बात का कांग्रेस और कामराज के इतिहास में उल्लेख किया जाएगा कि उन्होंने कुछ घण्टों में लगभग चार सौ नेताओं से व्यक्तिगत और दलों से सम्पर्क स्थापित किया और यह स्पष्ट हो गया कि लालबहादुर शास्त्री के कन्धों पर यह भार डाला जाएगा।

भारत के प्रधानमंत्री पद पर ऐसे व्यक्ति का प्रतिष्ठित होना, इस सत्य का सूचक है कि हमारी आजादी के 50 वर्षों के संघर्ष ने यदि व्यक्ति-पूजा की भावना को उत्पन्न किया तो एक ऐसी राष्ट्रीय प्रतिमा का भी निर्माण किया जो समय पड़ने पर अपनी समग्रता को एक व्यक्ति के रूप में भी निरूपित कर सकती थी। लालबहादुर इसी समग्र अकिंचनता के प्रतीक बनकर प्रधानमंत्री के पद पर बैठे और भारतीय जनता ने उनके रूप में अपना ही साक्षात्कार किया।

यह प्रश्न हमेशा ही पूछा जाएगा कि लालबहादुर शास्त्री के इस महान् उत्थान के पीछे कौन-सा रहस्य था? लास ऐंजेल्स में ट्वेन्टिएथ सेंचुरी फाक्स के चेयरमैन स्पाइरोस स्कोरास ने रूस के तत्कालीन प्रधान-मन्त्री ख्रुश्चोव से उनकी अमरीका-यात्रा के दौरान यह प्रश्न पूछा था, "मैं एक यूनानी शरणार्थी के रूप में अमरीका आया था और आज एक विशाल कार्पोरेशन का अध्यक्ष हूं। क्या आपके समाज में किसी व्यक्ति को उन्नति करने का अवसर प्राप्त हुआ है?"

ख्रुश्चोव: "श्री स्कोरास ने बताया कि वे 12 वर्ष की आयु से काम कर रहे हैं, लेकिन मैं तो तब से काम कर रहा हूं, जब से मैंने अपने पैरों पर खड़ा होना सीखा था। 15 वर्ष की आयु तक मैंने एक गड़रिये के ग्वाले की तरह काम किया। उसके बाद एक फ्रांसीसी मालिक की खान में काम

किया, फिर एक बेल्जियम फैक्ट्री में काम किया और आज मैं इस देश का प्रधानमंत्री हूं।"

कुछ ऐसी ही कहानी लालबहादुर शास्त्री की है। भारत की आजादी के पूर्व उन्होंने तपस्या का ही जीवन व्यतीत किया। आजादी के बाद उन्हें काम करने का अवसर मिला और उन्होंने कर्त्तव्य की हर परीक्षा में कामयाबी हासिल की। शास्त्रीजी के व्यक्तित्व में विनय थी। उनके अस्तित्व का भान तब तक नहीं होता था, जब तक उनकी स्पष्ट, तर्कयुक्त मुंशियाना तकरीर शुरू न हो जाती। उनके प्रत्येक शब्द में एक आत्मीयता ध्वनित होती थी। वे आत्म-भर्त्सना के व्यामोह से अपने को मुक्त नहीं कर पाते थे। कभी-कभी अवसर न होते हुए भी ऐसा भाव प्रकट करते थे; यह भावना उनकी युक्ति थी और शक्ति भी।

उनके चेहरे से हमेशा एक आश्चर्य-मिश्रित भावना झलकती थी, जिसे पढ़ा जाता तो पता चलता कि प्रधानमंत्री पद पर पहुंचने के दुर्लभ अवसर की प्राप्ति से वे स्वयं चकित नहीं थे। वे अपने जीवन की प्रारम्भिक अकिंचनताओं को भूलते नहीं थे। जब कभी अवसर आता तो वैभव की दुनिया से सहसा अपने अन्तर की दुनिया में चले जाते। जान-बूझकर वे अपनी साधुता का प्रदर्शन नहीं करते। उनके चेहरे पर यह संकल्प भी देखा जा सकता था कि चुनौती आने पर वे बड़े से बड़ा बलिदान कर सकते हैं। राजगद्दी छोड़ने का मोह उन्हें एक क्षण के लिए भी नहीं हिचकने देगा। यही उनकी वह शक्ति थी, जिसने उन्हें सबसे आगे की पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया।

उनके राजनीतिक जीवन का एक-एक क्षण गंभीर निष्ठा और आस्था से सम्पन्न रहा है। उन्होंने किसीको अपना प्रतिस्पर्द्धी अथवा शत्रु नहीं माना। डा० राजेन्द्रप्रसाद के बाद इन्हें भारतीय राजनीतिक रंगमंच का अज्ञातशत्रु कहा जा सकता था। किसी सिद्धांत के प्रति उनका आग्रह नहीं था। वे सिद्धांतकार के रूप में ख्यात होना नहीं चाहते थे। न वे अतिवादी थे। सहिष्णु थे और अपने को सच्चाई का एकमात्र और अन्तिम अलम्बरदार नहीं मानते थे। ऐसा कोई भी सामाजिक क्षेत्र नहीं था, जिस के लिए वे अमान्य हों, या जिसके एकमात्र प्रतिनिधि होने का वे दावा

करते रहे हों।

उनकी लोकप्रियता का रहस्य यही था। उनके चेहरे पर इतनी भोली मासूमियत मुसकराती थी कि प्रधानमंत्री पद की महत्ता को उनके कर्म में ढूंढना होता था। उनके सम्पर्क में आने वाला शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति रहा हो, जो उन्हें देखकर यह न कह उठा हो—ओह, जब ये प्रधान मन्त्री बन सकते हैं तो मैं क्यों नहीं बन सकता ? अपनी इसी विशिष्टता के कारण ये जनता के साथ अपने पद के सहभागी बनते थे और कभी किसीकी ईर्ष्या के पात्र नहीं बने। केवल एक अन्तर था, जिसके कारण वे भीड़ में खोए नहीं, खो नहीं सकते थे। उनके निर्णय सुविचारित और परिपक्व होते थे। वे एक तपोनिष्ठ संगठनकर्ता थे। मध्यवर्ती मार्ग का अनुसरण करने के कारण उन्हें झगड़े निपटाने और विरोधी दलों में समाहार उत्पन्न करने की अद्भुत क्षमता सहज ही प्राप्त हुई थी। उनके निर्णय निष्पक्ष और न्यायपूर्ण होते थे। उन्हें अपना स्वार्थ दिखाई नहीं देता था। साथियों का विश्वास करते थे, अग्रजों के प्रति भक्तिपूर्ण अनुराग रखते और छोटों के प्रति सहिष्णुता।

उनके व्यक्तित्व के इस महान् गुण का अध्ययन करने की जरूरत नहीं। लाला लाजपतराय की सर्वेण्ट्स आफ पीपुल्स सोसाइटी के कर्मचारी पद से लेकर कांग्रेस कार्यकर्ता के रूप में सार्वजनिक जीवन में उन्हें दो विरोधी एवं महान् व्यक्तियों के मध्य सकुशल रहने का अच्छा-खासा अनुभव मिला। उत्तर प्रदेश में उन्हें पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त और रफी अहमद किदवई के प्रति समान रूप से निष्ठा रखनी पड़ी। केन्द्रीय राजनीति में उन्हें जवाहरलाल नेहरू और पुरुषोत्तमदास टंडन, दोनों के प्रति समान भक्ति रखनी पड़ी। अनेक अवसरों पर उन्होंने टूटते सम्बन्धों को जोड़ा। उनके निस्पृह परामर्श को स्वीकार करके सभी सन्तोष की सांस लेते थे। दीर्घकालीन सार्वजनिक जीवन में उन्होंने जून 1964 के प्रथम सप्ताह से काफी पहले यह विश्वास स्थापित कर दिया था कि भले ही उनके मस्तिष्क में महान् विचारों का तूफान न उठता हो, लेकिन स्वीकृत सिद्धांत के अनुसार अपने कर्म को ढालने में उनकी समता पाना मुश्किल था। मौलिकता की दृष्टि से उन्हें अपने समकालीन विचारकों में

भले ही सर्वोच्च स्थान न दिया जा सके, लेकिन अपने सुपुर्द किए गए कार्यों की पूर्ति वे जितनी तत्परता के साथ करते थे, उसके लिए महान् संकल्प-शक्ति की आवश्यकता होती है।

लालबहादुर शास्त्री ने नेहरूजी का स्नेह अर्जित किया था। जन्म से उन्हें इतना रुतबा नहीं मिला था कि आजादी के संघर्ष में शौक के रूप में शरीक होते और अपने वर्ग के किसी महापुरुष की नजर में चढ़कर नेताओं की पहली पंक्ति में उठाकर खड़े कर दिए जाते। प्रादेशिक राजनीति से केन्द्र में बुलाए जाने के बाद अपनी कर्मनिष्ठा से एक के बाद दूसरे उत्तरदायित्व को सफलतापूर्वक वहन करने की क्षमता उन्होंने अर्जित और स्थापित की थी। नेहरूजी और पण्डित पन्त को छोड़कर शायद ही दूसरा कोई मन्त्रिमंडलीय सहयोगी ऐसा होगा, जिसे प्रशासन का इतना व्यापक ज्ञान था। विभिन्न पदों पर काम करते हुए उन्होंने अनेक उपलब्धियां प्राप्त की थीं, जिनके लिए देश की कृतज्ञता प्राप्त करने का सौभाग्य उन्हें मिला। भाषा को लेकर दक्षिण और उत्तर के बीच पड़ने वाली दरार को उन्होंने राष्ट्रभाषा विधेयक द्वारा पाट दिया। असम के भाषायी दंगों को समाप्त करने से लिए शास्त्री फार्मूले ने अमोघ औषधि का काम किया था। अकालियों के धार्मिक आन्दोलन के विस्फोट को शमन करनेवाले भी लालबहादुर ही थे। केरल में कम्युनिस्टों के खिलाफ संयुक्त मोर्चे के पीछे भी उन्हींका संगठन था। संयुक्त मंत्रिमण्डल से केरल-केसरी पट्टम तानु पिल्लै को पंजाब का गवर्नर बनाना और कांग्रेस को केरल में शासन की बागडोर देने का कार्य भी उन्हींकी देख-रेख में हुआ था। शास्त्रीजी ने नेपाल के कम्युनिस्ट चीन की ओर बढ़ते हुए झुकाव को भारत की ओर मोड़कर पुनः घनिष्ठ सम्बन्धों का रूप दिया। शेख अब्दुल्ला की रिहाई के पीछे भी लालबहादुर जी की प्रेरणा थी। स्वयं नेहरूजी ने शास्त्रीजी के ऐसे निश्चय को ऐसी ही साहसिकता पुकारा था जिसमें जान-बूझकर संकट सिर पर ओढ़ा जाता है। शेख को कश्मीर में खुला ही नहीं छोड़ा गया, उन्हें विदेश-यात्रा करने का मौका भी दिया गया। उनको वह हर मौका दिया गया जिससे उनके चेहरे पर पड़ा हुआ नकाब हट जाए और समूचा देश हकीकत को समझ

लें। शेख अब्दुल्ला की छद्म साम्प्रदायिकता दुनिया के सामने वेपर्दा हो गई। कश्मीर आज भी सही-सलामत है। पवित्र बाल की चोरी और पुनःप्रतिष्ठापना और कश्मीरी जनता के लिए और भी अधिक स्वाधीनता को प्रदान कराना लालबहादुर शास्त्री का ही काम था।

केवल यह निष्कर्ष निकाल लेना काफी नहीं है कि उन्होंने जो किया, उसका श्रेय नेहरूजी की सद्भावनाओं के कारण मिला। नेहरूजी की सद्भावना किसे प्राप्त नहीं थी? उड़ीसा के बीजू पटनायक को भी नेहरूजी ने आगे लाने की कोशिश की थी। धूमकेतु की तरह वह उड़ीसा की राजनीति में चमके। उड़ीसा के मुख्यमन्त्री रहते हुए भी नेहरूजी के दफ्तर में उनके लिए एक कक्ष सुरक्षित किया गया था। सन् 1952 में नेहरूजी ने जयप्रकाश नारायण को भी कांग्रेस में लेकर उपप्रधानमन्त्री बनाने का प्रयास किया था। चिन्तामणि देशमुख को भी उन्होंने इतनी आत्मीयता दी थी कि राजनीतिक क्षेत्रों में उनके लिए बड़ी-बड़ी अटकलें लगाई जानी शुरू हो गई थीं। स्वयं इन्दिराजी को इतना अवसर दिया गया कि वे अपने व्यक्तित्व को राष्ट्रीय व्यापकता दे सकें। इन सबको जिस समय अवसर मिल रहे थे, लालबहादुरजी तब भी उनके एक सैनिक की हैसियत से अपने हितों को भूलकर ऐतिहासिक कार्यों के सम्पादन में दिलो-जान से लगे हुए थे। इसमें सन्देह नहीं कि नेहरूजी की सद्भावना मिलने पर यदि वे उसका विवेकपूर्ण उपयोग न कर पाते, तो प्रधानमन्त्री पद जो उन्हें मिला, नहीं मिलता।

भारत-पाकिस्तान युद्ध के पूर्व बहुत कम लोग यह विश्वास कर सकते थे कि लगभग 5 फुट के कद वाला यह प्रधानमन्त्री दृढ़ता की हिमालय सरीखी ऊंचाई को प्राप्त कर सकेगा। लालबहादुर शास्त्री के व्यक्तित्व पर 'गार्जियन' ने अभिमत दिया था कि शास्त्रीजी कदोकामत में नगण्य दीख भले पड़ते हों, लेकिन वैसे नहीं हैं।

"लालबहादुर शास्त्री अभिनेता किस्म के भावुक नेता नहीं हैं। उनका लघु शरीर प्रायः अप्राकृतिक रूप से निर्मित प्रतीत होता है, उनका स्वर शांत, लेकिन अन्तरात्मा से निस्सृत होता-सा प्रतीत होता है। उनके व्यक्तित्व के चारों तरफ घोटाले का वातावरण नहीं है। वे विनीत भाव से

सम्पन्न हैं, लेकिन अपनी शक्ति से सुपरिचित हैं। सभी संराधकों (कन्सीलियेटर) की तरह उनमें इन्तिहाई पुख्तगी है। मौनावस्था में उनकी इस विशेषता को उनके मुख पर पढ़ा जा सकता है। किसीके प्रश्न की प्रतिक्रिया में उनके मुखमण्डल पर तीक्ष्णता और दृढ़ता उभर आती हैं। उनकी आंखों में चमक है, आर्द्रता है, लेकिन सतर्कता भी है। उनकी अंग्रेज़ी सावधानी से संवारी हुई और गरिमायुक्त होती है, लेकिन नेहरू के समान नहीं, क्योंकि वे उस भाषा में सोचते थे।

"भारत के पवित्रता, धैर्य और संकल्पशीलता जैसे गुणों का पराभव अन्धविश्वास और अकर्मण्यता में होता है। शास्त्री के साथ ऐसा नहीं है। वे हिन्दू धर्म में निष्ठा के साथ विज्ञान की शक्ति में भी आस्था रखते हैं। कर्म उनका दर्शन है। बर्नार्डशा, बर्ट्रेंड रसल और जूलियन हक्सले उनके प्रिय लेखक हैं। उन्होंने सन् 1942 के बाद नैनी जेल में कारावास के दिनों में मैडम क्यूरी की जीवनी का हिन्दी में अनुवाद किया था। मैडम क्यूरी के जीवन ने उन्हें इसलिए आकृष्ट किया था कि वे सेवापरायण थीं और वैज्ञानिक भी···।

"शास्त्री नेहरू से उतने भिन्न नहीं हैं, जितने दिखाई पड़ते हैं। अपनी सामाजिक और पारिवारिक पृष्ठभूमि और रुचियों के कारण वे मुख्यतः भारतीय हैं, लेकिन भारत के भविष्य के बारे में उनकी बुनियादी मान्यताएं नेहरू जैसी ही हैं। यदि वे काम के बोझ से अपने को ध्वस्त नहीं कर देते, और जिन्हें भारत का मित्र होना चाहिए ऐसे लोग उनकी सहायता करते हैं तो वे शंकाशील दुनिया के सामने यह सिद्ध कर देंगे कि भारतीय जनतन्त्र का अस्तित्व किसी एक महामेधावी व्यक्ति पर निर्भर नहीं है।"

महान् दायित्व स्वीकार करने की घड़ी उनके जीवन में जिस समय आई, तो उन्होंने शीश झुकाकर उसका स्वागत किया। 'आम मत' और 'सामूहिक नेतृत्व' के आविष्कर्ता कांग्रेस अध्यक्ष कामराज नाडार ने इन दोनों उद्बोधनों से यह स्थापित किया था कि 'नेहरू-जैसे महान् व्यक्ति की पूर्ति असम्भव' होते हुए भी यह देश अपने कामकाज का संचालन कर सकता है। शास्त्रीजी इस सामूहिक नेतृत्व के नारे से न तो विचलित हुए और न दुःखी। शायद हमेशा की भांति समूह को व्यक्ति में आत्मसात्

करने की प्रतिभा उनमें थी। लालबहादुर शास्त्री के पक्ष में कामराज नाडार ने 'आम मत' होने का निष्कर्ष गुलजारीलाल नन्दा, मोरारजी देसाई, जगजीवनराम और श्रीमती इन्दिरा गांधी को बताया था तो समन्वयवादी शास्त्री की आत्मा जैसे अपने इन महामहिम सहकर्मियों की आत्माओं में प्रविष्ट कर गई थी। 'आम मत' के हामी न होते हुए भी मोरारजी देसाई ने कहा था कि कठिनाइयों के समय प्रसन्न रहना ही उनका जीवन-दर्शन है। दो जून को संसद भवन के सेण्ट्रल हाल में कार्यवाहक प्रधानमन्त्री ने प्रधानमन्त्री पद के लिए लालबहादुर शास्त्री का नाम रखा संकल्प और मोरारजी देसाई ने उसका अनुमोदन किया। इस्पात से भी अधिक कठोरता के स्वामी मोरारजी के जीवन में इस तिथि से निष्काम कर्म का सूत्रपात हुआ, यह शास्त्रीजी के सौहार्द का प्रताप था। यह शास्त्रीजी का सौभाग्य भी था क्योंकि उनके सौभाग्य का सिंहद्वार प्रशस्त करने वाली नेहरू की आत्मा, जो उनके जीवन-काल में 'एकता के सूत्र में बांधने वाली शक्ति' का काम करती थी, आज एकता की भावना लाने वाली भक्ति के रूप में काम कर रही थी।

इस अवसर पर लालबहादुर शास्त्री ने बहुत संक्षिप्त भाषण किया था। उन्होंने कहा था कि 'मैं समाजवाद की स्थापना के लिए प्रयास करूंगा'' गम्भीर राष्ट्रीय क्षति के बाद हमें हिम्मत से काम लेना है और जो काम नेहरू अधूरे छोड़ गए हैं, उन्हें पूरा करना है'''।'' इस भाषण के दौरान लालबहादुरजी इतने भावाभिभूत हो गए थे कि वे कुछ मिनट तक बोल नहीं सके थे। उनकी आंखों से आंसू बह रहे थे, गला इतना भर आया था कि उनका स्वर बिलकुल अस्पष्ट हो गया था। इसी बीच किसीने उन्हें पानी का गिलास लाकर दिया था। कोई प्रधानमंत्री अपने पूर्ववर्ती को इससे अधिक सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित नहीं कर सकता। इस पद की स्पर्धा में आए महामहिम व्यक्तित्व शायद इस कुर्सी में बैठे उनसे अधिक भारीभरकम दीख पड़ते लेकिन उनकी आंखों में आंसू नहीं आ सकते थे। कारण कि लालबहादुर शास्त्री के रूप में राष्ट्रीय आत्मा इस पद पर आसीन हो रही थी, जो नेहरू के निधन से सम्पूर्ण राष्ट्र की रूप में मूर्त हो चुकी थी।

इस मूर्त व्यथा की पूतप्रेय आत्मा की शक्ति लेकर ही मनोनीत प्रधान-मन्त्री के रूप में उन्होंने अपने निवास-स्थान पर मौलश्री के वृक्ष के नीचे बैठकर दो सौ विदेशी और भारतीय पत्रकारों के समक्ष यह घोषित किया था कि "मैं श्री नेहरू की घरेलू और परराष्ट्र-नीतियों का पालन करूंगा। शांतिपूर्ण उपायों से मैं नई सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए कार्य करूंगा। विदेशी मामलों में मैं सब देशों के प्रति मित्रता की नीति पर चलूंगा और सैनिक संगठनों में नहीं पड़ूंगा।" संकल्पन और आयोजन की विराट प्रेरणा के महावट नेहरू के उत्तराधिकार के भार को वहन करने वाले उनके अनन्य साथी और मित्र के मुंह में अनुवर्तन की घोषणा का यही सर्वश्रेष्ठ अवसर था और इस अवसर को शास्त्रीजी ने कभी अपने हाथ से फिसलने नहीं दिया।

बाल्यकाल

लालबहादुर शास्त्री के बाल्यकाल का अध्ययन करने पर सहसा इस निष्कर्ष पर पहुंचने का मन होता है कि जिन लोगों का प्रारम्भिक जीवन वैभव-विलास में व्यतीत होता है, सम्भवतः वे जीवन के कटु यथार्थ की अनुभूतियों से वंचित रह जाते हैं और गमलों में लगाए गए फूलों के समा जीवन की सम्पूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाते। शास्त्रीजी का जीवन बाल मनोविज्ञान की उन धारणाओं को भी पराजित करता है जिसके अनुस यह कहा जाता है कि कष्टों, अभावों और वंचनाओं से आच्छादित बा मस्तिष्क अनेक कुंठाओं के शिकार हो जाते हैं, जो जीवनपर्यन्त सामा जीवन के मार्ग में बाधा उपस्थित करती हैं। उनके पारिवारिक, सा जिक और राजनीतिक जीवन में आश्चर्यजनक सन्तुलन का परि मिलता है।

इनका जन्म 2 अक्तूबर, 1904 को मुगलसराय में हुआ। इनके शारदाप्रसाद श्रीवास्तव धनाढ्य नहीं थे परन्तु उत्तरप्रदेश के का परिवारों की उच्च सांस्कृतिक परम्परा, बौद्धिक विकास तथा उच्च उ

व्यतीत करने के आदर्श से प्रेरित एक कुलीन परिवार के सदस्य थे। पेशे से वे एक शिक्षक थे। बाद में उत्तर प्रदेश सरकार के राजस्व विभाग में क्लर्क पद पर नियुक्त हो गए थे। हो सकता है कि शारदाप्रसादजी का जीवन आयु की सम्पूर्णता को प्राप्त होता तो 'नन्हे' को जीवन की विकट परिस्थितियों में से न गुजरना पड़ता। नन्हे अभी डेढ़ वर्ष का हुआ था कि उसके सिर से पिता का साया हमेशा के लिए उठ गया। उसे शायद यह [illegible] से अपने ही पैरों [illegible] रामदुलारीदेवी अल्पावस्था में वैधव्य को प्राप्त हो गई। माता के लिए नन्हे ही एकमात्र आश्रय और सहारा था। धर्मपरायणा माँ के लिए तो वह गंगामाता की ही देन बन गया। गंगा के वरद पुत्र नन्हे की शैशवावस्था की दो कहानियाँ प्रचलित हैं। हो सकता है कि दोनों कहानियाँ एक ही कहानी के रूप हों।

एक कहानी है कि रामदुलारीदेवी इलाहाबाद के मेले में पुण्यस्नान के लिए गईं। नन्हे उस समय केवल दो माह का था। गंगा पार करते हुए बच्चा उनकी गोद से फिसल पड़ा। माँ ने तो सोच लिया कि नन्हे गंगा मैया के अंक में समा गया, लेकिन वह दूसरी नौका में बैठे हुए किसान की टोकरी में गिर गया था। इधर माँ अपने शिशु के वियोग में बेहाल हो रही थी, उधर किसान खुश हो रहा था कि गंगा मैया से उसे इतना मूल्यवान प्रसाद प्राप्त हुआ। इस कहानी के अनुसार बच्चा चार दिन बाद वापस मिला।

दूसरी मान्यता यह है कि जब नन्हे तीन महीने का था तो उसकी माता गंगा-स्नान के लिए गईं। वे बच्चे को घाट पर नहला रही थीं कि इतने में भीड़ का रेला आया। वे स्वयं भी गिर गईं और बच्चा भी उनके हाथ से छूटकर एक किसान की टोकरी में जा गिरा। दुखी माँ अपने बच्चे को घर-घर खोजती फिरीं। बाद में पुलिस में सूचना दर्ज कराई गई और उनकी सहायता से नन्हे वापस मिल गया।

आश्चर्य होता है कि नन्हे अगर वापस न मिलता तो क्या होता। यह आश्चर्य ठीक उसी तरह का है कि अगर भगवान् कृष्ण माता देवकी के

यहां से यशोदा की गोद में न गए होते, और जमना पार करते समय उनका चरणस्पर्श करने आए जल को देखकर घबराए वासुदेव बच्चे समेत डूब जाते तो क्या होता ? गंगा के रेत में खेलते हुए नन्हे के जीवन पर पुण्यसलिला गंगा का प्रभाव बहुत अंशों में था। गंगा ने उन्हें तैराक बनाया। बाढ़युक्त गंगा को तैरकर पार करने का सामर्थ्य जिस बालक ने अल्पायु में ही कर लिया हो उसके बारे में दो ही भविष्यवाणियां की जा सकती थीं। या तो वह मल्लाह या मछियारा बनेगा या एक ऐसा महा-पुरुष जो जीवन की कठिन से कठिन बाढ़ में से अपने को सुरक्षित पार निकाल ले जाएगा।

उनके बचपन से गंगा का बेहद निकट का रिश्ता है। यदि समय होता और अपने मित्रों के इस सुझाव को मान लेते कि उन्हें अपना आत्मचरित लिखना चाहिए, तो वे शायद गंगा पर एक स्वतन्त्र अध्याय ज़रूर लिखते। उनके प्रारम्भिक जीवन की विपन्नावस्था के बारे में एक कहानी यह भी प्रचलित है कि वे प्राइमरी स्कूल में शिक्षा ग्रहण करने जाते समय गंगा तैरकर पार करते थे। शायद इस कहानी में अतिशयोक्ति ही अधिक है। अधिक विश्वसनीय कहानी यह है कि एक बार मेला देखने के लिए लाल-बहादुर अपने बालमित्रों के साथ गंगा पार गए। दिन-भर मेले में घूमने के बाद जब सब लोग लौटने लगे तो लालबहादुर पीछे को ठिठक गया। एक-एक करके सभी साथी नौकाओं में बैठ गए और घर के लिए रवाना हो गए तो लालबहादुर गंगा में कूद पड़े और तैरकर घर जाने लगे। गंगा का पाट आधा मील चौड़ा था। चौड़ाई और गहराई की दृष्टि से किसी भी मौसम में गंगा को पार करने वाले को वीर माना जाता है। फिर लालबहादुर तो बच्चा ही था।

नन्हे ने अपने साथियों से कह दिया था कि वह अभी और मेला देखेगा। वास्तविकता यह थी कि उसके पास नाव का किराया अदा करने के लिए पैसे नहीं थे। स्वाभिमानी लालबहादुर अपने मित्रों को अपनी स्थिति का भान नहीं होने देना चाहता था। तैराकी में केवल कौशल की प्राप्ति काफी नहीं होती। बाजुओं में ताकत की ज़रूरत भी होती है। लाल-बहादुर को शायद अपनी कुव्वते-बाज़ू पर अभिमान था। इसीलिए जब

कभी जल की चुनौती उन्हें मिली, वे हमेशा लंगोटाबन्द हो गए। वैसे दो बार वे डूबते-डूबते बचे थे। एक बार तो अपने शिक्षक का तीन वर्ष का बच्चा उन्होंने अपने कंधे पर बैठाया हुआ था। आश्चर्य है कि डूबने का अवसर उपस्थित होने लगा था तालाब के ठहरे हुए पानी में, वेगवती सरिताओं ने उन्हें कभी धोखा नहीं दिया। उनके प्रारम्भिक जीवन के इन तत्त्वों का प्रभाव आगे चलकर उनके मित्रों और सहकर्मियों के चुनाव पर भी पड़ा। शायद नेहरू के रूप में उन्हें वेगवती गंगा का जीवन-रूप मिला और उन्होंने ठहरे हुए जल के महाशयों को विदाई का प्रणाम कर लिया।

बाल्यकाल के संस्कार ही व्यापक जीवन का आधार बनते हैं। ये संस्कार उन्हें अपने ननिहाल में प्राप्त हुए। पिता के देहावसान के बाद रामदुलारीदेवी अपने पिता के घर चली गईं। बड़ी लड़की होने के कारण वे अपने पिता की प्रिय पुत्री थीं। लालबहादुर को भाई-भतीजों, नाती-पोतों और नातिनों-पोतियों से भरा कुनबा मिला। स्वयं शास्त्रीजी का कहना था कि उनके पिता जीवित होते तो भी शायद उन्हें इतना प्यार न कर पाते। छठी कक्षा तक वे अपने नाना हजारीलाल के घर मुगलसराय में ही रहे। इस जमाने की घटनाओं का लोगों को अधिक पता नहीं है। यह देखने में आया है कि नाना के घर पर पलनेवाले बच्चे प्रायः उदासीन, कामचोर और झगड़ालू हो जाते हैं। उन्हें या तो अधिक प्यार मिलता है या निहायत उपेक्षा, लेकिन लालबहादुर के प्रारम्भिक जीवन में ऐसी कोई कुंठा कभी देखने में नहीं आई।

दस वर्ष की आयु में छठी कक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद उन्होंने मुगलसराय छोड़ दिया और वाराणसी में अपने मौसा रघुनाथप्रसाद के यहां चले आए ताकि हाईस्कूल में प्रवेश कर सकें। रघुनाथप्रसाद एक आदर्श गृहस्थ थे। उनका जीवन निष्काम कर्म का श्रेष्ठ उदाहरण था। बनारस म्युनिसिपैलिटी में हेड क्लर्क थे। उस जमाने में हेडक्लर्क को गरीब नहीं कहा जा सकता था। यह बात दूसरी है कि वे अपने परिवार को उतनी सुख-सुविधा नहीं दे पाते थे, जितनी देना चाहते थे। बड़े परिवार का सचालन करना और लोभ का संवरण करना मुश्किल काम होता है। रघुनाथ

प्रसाद ने कष्ट सहे लेकिन ऐसा आचरण नहीं किया जिससे बच्चों के सामने कोई गलत मिसाल बन जाए।

इन दिनों बनारस के जीवन में प्राच्य विद्याओं के अभ्युत्थान का दौर चल रहा था। घर-घर में योग-साधना, तपश्चर्या और दार्शनिक उपलब्धियां प्राप्त करने की ओर झुकाव था। यह नगर बीसवीं सदी के प्रारम्भिक चरण में अनेक योगियों, सन्तों और फकीरों का विचरण-क्षेत्र रहा है। लालबहादुर के मौसा एक सद्गृहस्थ के रूप में प्रेरक जीवन व्यतीत करते थे। साठ वर्ष की आयु में अवकाश ग्रहण करने के बाद उन्होंने एक दुकान चलाई ताकि अपनी आमदनी में वृद्धि कर सकें। विकट परिस्थितियों में गृहस्थ जीवन के ऐसे संचालन का लालबहादुर ने खुली आंखों देखा था। सम्भवतः मौसा के निष्काम जीवन का ही प्रभाव है कि शास्त्रीजी तपे तो जी भरकर, लेकिन संग्रह की तरफ ध्यान देने का कभी विचार ही उनके मन में नहीं आया। सन् 1935 और 45 के बीच शास्त्रीजी के पारिवारिक जीवन की आर्थिक कठिनाइयों को जो लोग जानते हैं, उन्हें यह विश्वास करने में कभी कठिनाई नहीं हुई कि वे पिछले जन्म में प्रारंभ की गई अपरिग्रह साधना की पूर्ति, जो शायद अधूरी रह गई थी, इस जन्म में कर रहे थे।

घर के प्रभाव और हरिश्चन्द्र हाई स्कूल के वातावरण ने नन्हे के जीवन को नवीन सांचे में ढाल दिया। डी० आर० मनकेकर ने शास्त्रीजी की जीवनी में उल्लेख किया है कि इतनी छोटी उम्र में ही उन्होंने सन्तों की वाणी से एकात्म कर लिया था। गुरु नानक के एक पद को उन्होंने अपने जीवन का नियामक मन्त्र बना लिया था:

नानक, नन्हे ह्वै रहो, जैसे नन्ही दूब।
और रूख सूख जाएंगे, दूब खूब की खूब॥

वास्तव में नन्हे के लघु आकार ने उसे सन्तोष और धीरज से काम लेने की आन्तरिक प्रेरणा दी थी और खामोशी के साथ अपने अन्य गुणों का विकास करके सबकी प्रशंसा अर्जित करने का संकल्प पैदा कर दिया था। उसे अपने लघु आकार-प्रकार का बोध ही नहीं था, उसे यह भी

ध्यान रहता था कि पिता के न होने के कारण वह दूसरों की तरह अराजक और उद्दण्ड जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। जब वह 6 वर्ष का था तो बहुत-से बन्धु-मित्रों के साथ एक सार्वजनिक उद्यान पर आक्रमण में नन्हे भी शरीक हो गया। दूसरे साथियों ने फल-फूल की जोरोज़ उड़ाई, लेकिन नन्हे ने एक फूल तोड़ा ही था कि माली इस बाल सेना की ओर शोर मचाता हुआ लपका। बड़े छोकरे तो भाग गए, बेचारा नन्हे खड़ा रह गया। माली ने जब उसकी अच्छी मरम्मत कर दी तो नन्हे ने माली से कहा, "मेरे पिता नहीं हैं, इसीलिए तुम मुझको इस तरह पीट रहे हो ?"

"तब तो और भी ज़रूरी है बेटा, कि तुम अच्छा आचरण करो।" माली ने कहा।

माली ने जिस कठोर यथार्थ की ओर संकेत किया था, लालबहादुर के जीवन में तो वह जैसे रम ही गया था। पढ़ाई में ही उनका ध्यान रहता। गणित में उसकी गति दूसरे विषयों के समान नहीं हो सकी। ज्यामिति और अलजबरा में निपुणता प्राप्त होने के कारण वह इस कमी को पूरी कर लेता था। अंग्रेज़ी भाषा में उसकी विशेष गति थी। खास तौर से उसका उच्चारण बहुत सही होता था। इन्स्पेक्टर के मुआयना करने के अवसर पर अंग्रेज़ी पाठ का वाचन करने के लिए लालबहादुर को ही नमूने के तौर पर चुना जाता था और उसे प्रशंसा भी मिलती थी।

शान्त स्वभाव और अपने काम से काम रखने की प्रवृत्ति के कारण लालबहादुर को स्कूल के उद्दत लड़कों के अत्याचारों से मुक्ति मिली। असाधारण अध्येताओं में गिनती न होने पर भी वे अपने शिक्षकों के अत्यन्त प्रिय शिष्य रहे। लालबहादुर के मानसिक क्षितिज पर गुरु-कृपा से एक दूसरी ही दुनिया का उदय हो रहा था। स्वराज्य-प्राप्ति की पुकार देश के कोने-कोने में उठ रही थी। लालबहादुर उस समय के महान् राजनीतिक नेताओं के भाषणों का पारायण करता और देशभक्ति की भावना उसके हृदय में हिलोर पैदा कर देती। इन्हीं दिनों में उसे भारत के दो महान् नेताओं के दर्शन करने और उनका राष्ट्रीय उद्बोधन सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। संयोग था कि जिस समय लोकमान्य तिलक बनारस पधारे, लालबहादुर शहर से पचास मील दूर था। रेल-यात्रा करके अपने

प्रिय नेता के दर्शन करने और उनके प्रेरक विचारों को सुनने के लिए उसके पास पैसा नहीं था। वह हाथ मींड़कर इस असमर्थता पर दुःखी हो-होकर रह जाता। लेकिन उसने साहस करके कुछ पैसा उधार ले ही लिया और वनारस आकर 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है' के उद्वोधनदाता का भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त किया।

भारतीय राजनीति के सैद्धान्तिक सन्धिकाल में लालवहादुर की प्रतिभा का संवर्धन हो रहा था। यह वह युग था जव गांधीजी दक्षिण अफ्रीका से भारत आए ही थे। इससे पूर्व लोकमान्य तिलक का व्यक्तित्व भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर राष्ट्र की स्वाधीन चेतना का प्रतीक वन चुका था। प्रथम विश्व महायुद्ध में अंग्रेजों की स्थिति संकटापन्न थी और ईवान डी वेलरा ने आयरलैंड में क्रान्ति का शंखनाद प्रारम्भ कर दिया था। महात्मा गांधी के आगमन से स्वाधीनता-आन्दोलन का स्वर वदल गया। लालवहादुर ने वारह वर्ष की आयु में ही गांधीजी के भी दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त किया। शास्त्रीजी के मानस पर गांधीजी के व्यक्तित्व की अमिट छाप पड़ने का कारण भी शायद यही था। गांधीजी सन् 1916 में वनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के उद्घाटन के अवसर पर वनारस आए थे। लॉर्ड हार्डिग्ज विश्वविद्यालय-भवन का शिलान्यास करने आए थे। पंडित मदनमोहन मालवीय की विशेष इच्छा से गांधीजी भी इस अवसर पर पधारे थे। रत्नखचित वेशभूषा में दमकते हुए अनेक भारतीय महाराजा भी उपस्थित थे। अध्यक्षता दरभंगा के महाराज कर रहे थे। गांधीजी ने व्रिटिश सरकार और भारतीय महाराजाओं के विरुद्ध डटकर भाषण किया। उन्होंने स्वदेशी और स्वराज्य की चर्चा की, और भारतीय समाज की आंतरिक फूट की ओर अपने श्रोताओं का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने क्रान्तिकारियों के देश-प्रेम की चर्चा की, लेकिन रक्तिम क्रान्ति के स्थान पर सत्याग्रह का मार्ग ग्रहण करने का आग्रह किया। उन्होंने विदेशी सरकार की अधीनता स्वीकार करके प्रसन्न होनेवाले महाराजाओं को सम्बोधित करके कहा था : "राजाओ, जाओ और अपने रत्न वेच दो!"

उनके खरे और पैने भाषण को सुनकर वड़े-वड़े अहलकार और राजे-

महाराजे सभा-भवन छोड़कर चले गए थे। अन्त में क्षुब्ध होकर सभा के अध्यक्ष दरभंगा के महाराज भी सभा-भवन से चले गए थे। श्रीमती एनी बेसेण्ट ने गांधीजी के भाषण के प्रति क्षोभ प्रकट किया था, लेकिन जनता आदि से अन्त तक मन्त्रमुग्ध होकर उन्हें सुनती रही थी। लालबहादुर इस रोमांचकारी निर्भीकता के हाथों लुट गया था।

मोटी धोती, काठियावाड़ी अंगरखा और सिर पर पगड़ी धारण करने वाले गांधी का स्वर बनारस के विश्वनाथ मन्दिर में लेकर गली-गली में गूंज रहा था। गांधीजी देखने में एक विपन्न काठियावाड़ी किसान से अधिक नहीं थे। लेकिन उनके स्वर में गीता के भगवान् की प्रतिच्छवि थी। लालबहादुर के कोमल मानस पर इस तेजोमय वातावरण का प्रभाव पड़ा। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में पिता का स्थान हर बालक के मन में इन्हीं नेताओं ने ग्रहण कर लिया था। लालबहादुर का मन दृढ़ और संकल्पशील होता जा रहा था। वह अपने रूप में महाभारत के कृपाचार्य के दर्शन करने लगा था।

लालबहादुर बाल स्काउट में भर्ती हो गया था। सरकार-समर्थित बैडेन पावेल के स्काउट दल में नहीं, वरन् भारत सेवा-समिति के बाल स्काउट दल में। इस दल के सदस्य की हैसियत से वह अपने साथियों के साथ शिक्षा और समाज-सेवा-शिविरों में भाग लेता। ब्रिटिश राज के कारण संलग्न भारतीय जनता के कष्टों और दु:खों के बारे में वह अपनी राय जाहिर करता था। राष्ट्र की तेजोमय आत्मा ने उसके कोमल हृदय में वास कर लिया था।

लालबहादुर ने अपने भावी जीवन को संभवत: इसी समय से ढालना शुरू कर दिया था। उनके बालसाथी त्रिभुवननारायणसिंह ने सार्वजनिक रूप से यह कहा था कि बचपन से ही लालबहादुर अपने निजी कार्यों के लिए किसी दूसरे पर निर्भर करना पसन्द नहीं करते थे। "वे अपने जूतों को खुद ही गांठ लेते थे और अपने कपड़े भी स्वयं ही सी लिया करते थे। विद्यार्थी जीवन-काल में वे भारी वाग्मी नहीं थे, लेकिन वे यह भली भांति जानते थे कि उनके मस्तिष्क में क्या है।" 17 वर्ष की आयु तक वे हरिश्चंद्र कालेज में पढ़ते रहे। हालांकि अपने घर का वे ही एकमात्र सहारा थे।

उन्हींको परिवार के दायित्वों की पूर्ति करनी थी। लेकिन समाज के दायित्वों के प्रति कर्त्तव्य-बोध की भावना ने उन्हें अकिंचन नहीं होने दिया। परिवार की सीमाएं इतनी बलवान् न साबित हो सकीं कि वे हाईस्कूल पास करके कहीं क्लर्की में लग जाते और कोल्हू के बैल की तरह विदेशी शासन को सहन करते रहते। उनके विद्यार्थी-काल में और भी सैंकड़ों साथी रहे होंगे, लेकिन लालबहादुर शास्त्री ने सबसे अलग अपनी दिशा शायद चुन ली थी। वह अपने पाठ्यक्रम के साथ इण्डियन नेशनल कांग्रेस की गतिविधियों का पारायण करता। गोपालकृष्ण गोखले, विपिनचन्द्र पाल, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, बाल गंगाधर तिलक और महात्मा गांधी के भाषणों का भी अध्ययन करता। इन्हीं नेताओं के पुण्यप्रसाद से उसकी आत्मा में प्रकाश पैदा हुआ। सत्याग्रह-आन्दोलन में भाग लेने के लिए जब उसने अध्ययन छोड़ा तो बड़ी श्रद्धा के साथ लड़कों ने उसे घेरकर अपनी अभ्यर्थना प्रकट की थी। यह अभ्यर्थना ही उसकी एकमात्र पूंजी और शक्ति बनी।

सोया सिंह जागा

जल, पृथ्वी और आकाश तीनों तत्वों के विद्यमान रहते हुए भी घट का निर्माण तब तक नहीं होता, जब तक कि कुशल कुम्भकार के हाथों तीनों तत्वों का समायोग न हो जाए। लालबहादुर के मन की स्थिति भी यही थी। निष्कामेश्वर मिश्र के रूप में उसे एक कुशल कुम्भकार की प्राप्ति हुई। वैसे तो निष्कामेश्वर मिश्र हरिश्चन्द्र हाई स्कूल में गणित और अंग्रेज़ी के शिक्षक थे, लेकिन उनके अध्यापन के विषयों की कोई सीमा नहीं थी। मंझोले कद, तेजोमय नेत्र और दीप्तिमान मुखमण्डल वाले इस अध्यापक को भारतीय परम्परा के उन शिक्षकों की श्रेणी में रखा जा सकता था जो अपने शिष्यों को साक्षर ही नहीं बनाते, उनकी अन्तश्चेतना को भी संवारते हैं।

निष्कामेश्वर मिश्र अपने शिष्यों को प्राचीन भारतीय शौर्य की कहा-

नियाँ सुनाते थे। स्काउट मास्टर की हैसियत से वे उन्हें बाहर ले जाते और शिविरों में उन्हें महात्मा तिलक के 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' का रहस्य समझाते। महाराणा प्रताप और शिवाजी द्वारा लड़े गए स्वाधीनता-संग्राम से लेकर वे उन्हें क्रान्तिकारियों के कारनामों से भी परिचित कराते। कहते हैं इन्हीके आग्नेय विचारों के प्रभाव में 16 वर्ष की आयु में लालबहादुर का रुझान क्रान्तिकारी गतिविधियों की तरफ हुआ था। अगर सन् 1920 में गांधीजी फिर बनारस न आते तो हो सकता था कि लालबहादुर क्रान्तिकारी दल में प्रवेश कर जाते। लालबहादुर शास्त्री जब कहते थे कि उनके जीवन पर सबसे अधिक प्रभाव गांधीजी का है तो यह बात गलत नहीं थी। गांधीजी भारतीय राजनीति में धूमकेतु की तरह आए और राजनीतिक क्षितिज पर उनका इन्द्रधनुषी व्यक्तित्व एक छोर से दूसरे छोर तक छा गया। चम्पारन सत्याग्रह द्वारा गांधीजी ने नील उगाने वाले किसानों को अंग्रेज प्रभुओं की दासता से मुक्त करने का श्रेय प्राप्त किया था। गुलामी की प्रथा के समाप्त होने पर भी ब्रिटिश सरकार ने अपने उपनिवेशों में इण्डेंचर्ड लेबर के रूप में 5 वर्ष के अनुबंध के बहाने भारतीय नागरिकों को मजदूरों में बदलकर भर्ती करने की प्रथा को कायम रखा हुआ था। अफ्रीका में सफल संघर्ष के बाद गांधीजी ने इस प्रथा पर प्रहार किया।

गुजरात में खेड़ा जिले के किसानों की मुक्ति के लिए गांधीजी ने सफल हड़ताल की थी। रौलेट ऐक्ट के विरोध के दौरान जलियांवाला काण्ड घटित हो चुका था। इन्हीं दिनों 12 अप्रैल को रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गांधीजी को पत्र लिखा था : """इस संकट की घड़ी में आप एक महान् नेता के रूप में हमारे मध्य आए। आपने भारतीय विश्वास की पुन: स्थापना की, जो कि गुप्त प्रतिहिंसा और भयजनित कायरता का विरोध करती है। आपने कहा है, जैसा महात्मा बुद्ध ने अपने समय में किया था; 'क्रोध पर अहिंसा की शक्ति से विजय प्राप्त करो, बुराई पर सच्चाई की शक्ति से विजय प्राप्त करो।'" सन् 1920 में महात्मा तिलक का देहावसान हुआ था और उनके अन्तिम शब्द भारत के प्राणों में बस गए थे— "जब तक स्वराज्य प्राप्त नहीं होगा भारत समृद्ध नहीं हो सकता।

अस्तित्व के लिए स्वराज्य अनिवार्य है।" लालबहादुर के कोमल मस्तिष्क पर इतिहास के इस महामहिम अध्याय का प्रभाव पड़ रहा था।

इण्डियन नेशनल कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में गांधीजी का 'सिविल नाफरमानी' का प्रस्ताव भारी बहुमत से स्वीकार कर लिया गया। असहयोग आन्दोलन का उद्देश्य यह था कि लोग सरकारी पदवियों का परित्याग व. दें, सरकार को किसी प्रकार का सहयोग न दें, शिक्षा-संस्थाओं, न्यायालयों, महाविद्यालयों का बहिष्कार हो। लगान न दिया जाए, विदेशी माल का बहिष्कार किया जाए और हाथ की कताई-बुनाई की जाए ताकि राष्ट्रीय आन्दोलन की सफलता के लिए हर व्यक्ति अधिक से अधिक योगदान करे। गांधीजी के इस आह्वान को देश ने सुना और उसे स्वीकार किया। इसी सन्देश को लेकर गांधीजी फिर एक बार बनारस आए थे। लालबहादुर के सामने एक भारी चुनौती आई। एक तरफ उनके नाते-रिश्तेदार उन्हें यह समझा रहे थे कि अध्ययन को छोड़कर वह अपने जीवन में विनाश और विपत्तियों को न्योता दे रहा है और दूसरी तरफ राष्ट्र की पुकार थी। सत्याग्रहियों का पहला जत्था जब हरिश्चन्द्र हाई स्कूल के सामने से गुजरा तो लालबहादुर, त्रिभुवननारायणसिंह और अलगूराय कक्षा का परित्याग करके असहयोग आन्दोलन में शरीक हो गए। लालबहादुर की आयु उस समय 16 वर्ष की थी। हाई स्कूल सर्टिफिकेट के लिए परीक्षा में बैठने के थोड़े ही दिन बाकी रह गए थे, लेकिन उसके अन्तर का सोया सिंह जाग उठा था।

हरिश्चन्द्र स्कूल से विदा होते समय की झांकी उनके पुराने शिक्षक श्री बेनीप्रसाद गुप्त ने इस प्रकार प्रस्तुत की है: "इन परिस्थितियों में जब बालक लालबहादुर ने महात्मा गांधी के आह्वान पर स्कूल छोड़ने का निश्चय किया तो सचमुच मुझे बड़ा आघात लगा।"

"एक दिन हम लोग खेल के मैदान में बैठे हुए थे। वहां लालबहादुर और त्रिभुवन ने आकर चरण-स्पर्श किया और कहा, 'मास्टर साहब, अब आज्ञा दीजिए।'

"सन् 1921 का महात्मा गांधी का आन्दोलन शुरू हो गया था। उन्होंने छात्रों को स्कूल छोड़कर असहयोग आन्दोलन में भाग लेने का

आदेश दिया था। मैं बहुत घबड़ाया। मेरे ये दोनों छात्र बहुत मेधावी और प्रतिभाशाली थे। अपनी कक्षा में बहुत तेज थे। मैंने समझाया, 'पहले हाई-स्कूल पास कर लो, तब स्कूल छोड़ो। तुम दोनों को स्कॉलरशिप भी मिल सकता है। उस समय सत्याग्रह करने पर तुम्हारा बहुत नाम होगा।'

"दोनों ने कहा—'अच्छा मास्टर साहब, विचारकर जवाब देंगे।'

दूसरे दिन फिर आए। बोले—'मास्टर साहब, हम लोगों ने विचार कर लिया है। गांधीजी की पुकार है। अब हम लोगों का मन यहां नहीं लग रहा है।' दोनों बालकों ने मेरे पैर छुए और हम लोगों ने सच्चे हृदय से आशीर्वाद देकर विदा किया।"

संकल्प की घोषणा करके फिर उसे पूरा करना, यह विशेषता लालबहादुर में प्रारम्भ से ही थी। असहयोग आन्दोलन में उनकी पहली गिरफ्तारी अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं थी। उन्हें पुलिसवाले ले जाया गया और पूछताछ करके छोड़ दिया गया। फिर भी जीवन में एक नया मोड़ आ चुका था। यह निर्णय करना कठिन हो रहा था कि वे आन्दोलन में कूद पड़ें या फिर से विद्यारम्भ करें। इन दिनों उन्हें सुप्रसिद्ध दार्शनिक डा० भगवानदास के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। उन्होंने परामर्श दिया कि वे काशी विद्यापीठ में दाखिल हो जाएं और अपने अधूरे अध्ययन को पूरा करके भावी जीवन का कार्यक्रम निर्धारित करें।

काशी विद्यापीठ की स्थापना सुप्रसिद्ध देशभक्त, विद्वान् और महापुरुष शिवप्रसाद गुप्त की प्रेरणा से हुई थी। असहयोग आन्दोलन के दौरान बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से पदत्याग करनेवाले प्राध्यापकों ने इस विद्यालय को विशुद्ध भारतीय शैली पर संचालित करने का संकल्प किया था जिसका उद्देश्य राष्ट्रीयता को जगाना था। डा० भगवानदास इसके प्रिंसिपल थे। प्राध्यापकों में आचार्य नरेन्द्रदेव, डा० सम्पूर्णानन्द, आचार्य जे० बी० कृपलानी और श्रीप्रकाश जैसे उद्भट विद्वान् और राजकर्मी थे। इस विद्यालय के आंगन में स्वतन्त्रता की उन्मुक्त वायु संचरित होती थी। विद्यार्थी पाठ्यक्रम की रस्सी में फंसे नहीं थे। वे निर्भीक होकर राजनीतिक मतवादों पर बहस करते। स्वाधीनता-संग्राम के संचालन के लिए म० तिलक और गांधी के मध्य इन दिनों यह विवाद चल रहा था कि हिंसा-मार्ग का

अनुसरण किया जाए अथवा अहिंसा का। शायद ही कोई विद्यालय, महाविद्यालय या विश्वविद्यालय ऐसा होगा जहां इस विषय पर वाद-विवाद न होता हो। विद्यालय ही क्या, शायद इस देश का कोई ही व्यक्ति या परिवार ऐसा होगा जिसने इस विवाद से अपने को मुक्त रखा हो। काशी विद्यापीठ इस दिशा में अग्रणी था। वहां केवल इसी विषय पर वाद-विवाद नहीं होता था। विद्यापीठ के तत्कालीन आचार्यों में एक भी ऐसा नहीं था जिसने भारतीय राजनीति में किसी न किसी क्षेत्र में अपनी छाप न छोड़ी हो। यहां के वाद-विवादों में स्वाधीनता-आन्दोलन की मीमांसा ही नहीं होती थी, यहां स्वतन्त्र भारत की कल्पना को यथार्थ मानकर उसकी भावी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था पर भी विचार होता था। गांधीजी के प्रभाव से स्वदेशी और उसके साथ कुटीर उद्योग की संकल्पना आई थी। उन दिनों भी लालबहादुर अपने सुधीर स्वर से यह कहते सुने जाते थे कि भारत को कुटीर उद्योग का विकास करते हुए अन्त में भारी उद्योगों का ही निर्माण करना चाहिए।

बहुत कम लोगों को यह सौभाग्य मिलता है कि आचार्यों के साथ उन्हें अच्छे सहपाठी भी मिलें। लालबहादुर के सहपाठियों में अलगूराय शास्त्री, त्रिभुवननारायणसिंह, बालकृष्ण केसकर, राजाराम शास्त्री, हरिहरनाथ शास्त्री, विभूतिभूषण मिश्र जैसे विद्यार्थी थे। लालबहादुर ने चार वर्ष तक विद्यापीठ में अध्ययन किया। हालांकि विद्यापीठ की मुख्य प्रतिभा राजनीति थी, लेकिन लालबहादुर ने दर्शन विषय अपने लिए चुना था। उस अवधि में उसने खुली आंखों, समझदारी के साथ अध्ययन किया और जमकर घोटा भी लगाया था। टाल्सटाय के अध्ययन की ओर उसका ध्यान सर्वप्रथम गया। उसका कारण शायद यह था कि गांधीजी का सम्पूर्ण सत्याग्रह आन्दोलन महर्षि टाल्सटाय के सत्य, प्रेम और अहिंसा के आधार पर टिका था। स्वामी रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द के साहित्य और जीवन का भी उसने पारायण किया। अतिरिक्त पठन में महात्मा लेनिन भी सम्मिलित थे। इस विराट अध्ययन का सुपरिणाम यह हुआ कि दर्शन विषय में लालबहादुर को प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। फिर भी उनके जीवन पर डा० भगवानदास के समन्वयवाद का

प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता था। डा० भगवानदास के पवित्र जीवन, सौम्य भव्य व्यक्तित्व और दर्शन के उद्भट पाण्डित्य से प्रभावित होना स्वाभाविक था। डा० भगवानदास की दार्शनिक मीमांसाओं ने लालबहादुर के मानस के समस्त प्रकोष्ठों को प्रकाशित किया और सभी वातायनों को उन्मुक्त कर दिया। उसका मन पूर्वाग्रहों से मुक्त हो गया। स्वतन्त्र चिन्तन की शक्ति उदय हुई। संकल्प धारण करने और उसकी पूर्ति के लिए सम्पूर्ण निष्ठा से प्रयत्नशील होने का संस्कार जाग्रत् हुआ। लालबहादुर शास्त्री इन सुन्दर क्षणों को स्मरण करते समय डा० भगवानदास के प्रति श्रद्धा से अभिभूत हो जाते थे।

काशी विद्यापीठ में अध्ययन की अवधि लालबहादुर के जीवन की आधारशिला बनी। प्रतिदिन वह छः-सात मील पैदल चलकर कालेज पहुंचता था। कालेज से घर आने के समय तो उसे सोलह मील पैदल चलकर आना पड़ता था। उसका जीवन ऐसे टिमटिमाते हुए चिराग की भांति जलता रहा, आंधी और तूफान में भी जिसकी बाती लरजकर रह जाती है, बुझती नहीं। उसके जीवन में उमंग और साधना के अतिरिक्त शायद कुछ नहीं था। कठिन से कठिन परिस्थितियों का हंसकर मुकाबला करना और फिर उन्हें आशीष के रूप में शक्ति बना लेना ही उसकी एकमात्र शक्ति थी। उसकी पहली गिरफ्तारी शायद जवाहरलाल नेहरू से कुछ दिन पहले ही हुई थी। लेकिन वह बड़े बाप का बेटा नहीं था। वह तो इस देश के उन कोटि-कोटि नवयुवकों में से था जिनके सीनों में कुछ कर गुजरने की उत्कट अभिलाषा रहती है, लेकिन जिनके पैर संसार के भार के नीचे असमय में ही लड़खड़ा जाते हैं। पर लालबहादुर अपनी संकल्प-शक्ति के बल पर खड़ा ही रहा था।

किसी के व्यक्तित्व की ऊंचाई इस बात से नहीं आंकनी चाहिए कि वह उन्नति के कितने ऊंचे शिखर पर पहुंचा, वरन् इस बात से आंकनी चाहिए कि वह व्यक्ति कहां से चला और जीवन की कौन-सी मंजिल तक पहुंचा। ये विचार अमरीका के सुप्रसिद्ध नीग्रो शिक्षाशास्त्री बुकर टी० वाशिंगटन के हैं। क्या यह बात भारतीय इतिहास में अभिमान के साथ उल्लिखित नहीं होनी चाहिए कि लालबहादुर शास्त्री मिट्टी में से उठा और

हिमालय पर्वत के समान ऊंचे सामाजिक पद पर पहुंच गया ? उसके समकालीन राजकर्मियों में शायद कोई शून्य को विराट का रूप देने का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सका। लालबहादुर शास्त्री की लौकिक उपलब्धियों के पीछे सर्वाधिक सारगर्भित सत्य यह है कि उसने कोई योजना बनाकर व्यक्तिगत अथवा राजनीतिक जीवन के किसी पद पर आसीन होने की अभिलाषा को मन के किसी भी प्रकोष्ठ में ठहरने ही नहीं दिया। यह भी कहा जा सकता है कि वह शायद अकिंचन आरम्भ से इतना अभिभूत था कि उसे यह स्वीकार करना पड़ा कि 'लालबहादुर, तुझसे जो बन सकता है कर, राष्ट्रमाता के प्रति तेरा जो देय है उसे समर्पित कर, तुझमें वह चमक कहां कि उषा वेला में उगे और दुनिया तेरी अरुणिमा के समक्ष नतमस्तक हो जाए।' शायद वह सामान्य जन लालबहादुर ही होगा जिसके प्रशान्त मुस्कानमय मुखमण्डल को देखकर नोबल लारिएट हरमन हेस ने लिखा था कि 'जीवनबोध से शून्य सामान्य जन, और जीवन के समस्त ज्ञान-गरिमा से सम्पन्न रागातीत परमहंस के मुखमण्डल पर खिलनेवाले निश्छल हास्य में कोई अन्तर नहीं होता।"

काशी विद्यापीठ छोड़ने के बाद लालबहादुर के सामने यह प्रश्न आया कि अब वह क्या करें। उन्होंने लोकसेवा मण्डल के साथ काम करना पसन्द किया। अपने बालमित्र और सहपाठी अलगूराय शास्त्री की देखरेख में उन्होंने मुजफ्फरपुर में अछूतोद्धार का कार्य प्रारम्भ किया। उनकी तत्परता और लगन और कठोर श्रम का पुरस्कार था कि लाला लाजपतराय का ध्यान शास्त्रीजी के प्रति आकर्षित हुआ और वे लोकसेवक मण्डल के आजीवन सदस्य बना लिए गए। लोकसेवक मण्डल का निर्माण लाला लाजपतराय ने गांधीजी की प्रेरणा से सन् 1921 में किया था। गांधीजी ने ही उसका उद्घाटन किया था। इस संस्था का उद्देश्य सच्ची लोक-सेवा करना ही नहीं था, वरन् सच्चे लोकसेवकों का निर्माण करना भी था। वस्तुतः लोकसेवक-मण्डल उनके राजनीतिक जीवन का प्रथम सोपान बना। सन् 1926 में लाला लाजपतराय के देहावसान के उपरान्त स्व० पुरुषोत्तमदास टण्डन उसके अध्यक्ष नियुक्त हुए। लोकसेवक मण्डल का प्रधान कार्यालय इलाहाबाद चला आया और उसके साथ लालबहादुर

शास्त्री भी इलाहाबाद चले गए। इस संस्था में काम करते समय शास्त्री जी को 60 रुपये मासिक भत्ता मिलता था जो आगे चलकर 100 रुपये प्रतिमास हो गया था। शास्त्रीजी ने यह स्वीकार किया था कि 'इस मंडल की आजीवन सदस्यता के कारण ही मुझे अपने देश की सेवा करने का सबसे अधिक मौका मिला। मण्डल के सहारे ही मुझे 'लोकसेवक' के सच्चे अर्थों का भान हुआ।'

सन् 1927 में शास्त्रीजी का पाणिग्रहण ललितादेवी के साथ हुआ। ललिताजी की आयु विवाह के समय 17 वर्ष की थी। वे अपने पति से आयु में 6 वर्ष छोटी थी। 9 वर्ष की आयु से ही वे शिव की उपासिका हैं। पति और परिवार के प्रति उनकी एकनिष्ठता का ही सुपरिणाम था कि शास्त्रीजी को देश-सेवा करने का निर्बाध अवसर मिला। शास्त्रीजी ने स्वीकार किया है: "मुझे आज तक कभी पारिवारिक समस्या का भान नहीं हुआ। मैं घर में आता और खा-पीकर चला जाता। इससे मुझे गांधी-जी तथा नेहरू सरीखे दो कठोर परिश्रमी महापुरुषों के बीच अपनी शक्ति के उपयोग का काफी समय मिल गया।" श्रीमती ललितादेवी ने यह आजीवन माना है कि जब तक उनके पति प्रसन्न, स्वस्थ और दूसरों के लिए उपयोगी हैं, तब तक उन्हें यह चिन्ता नहीं होती कि वे क्या करते हैं। शिवोपासिका ललिताजी ने भी जीवन के इस रहस्य को जान लिया था कि 'सुख तो अपने में से ही मिलता है न कि बाहर से। न तो धन ही और न पद ही किसीके मन को सुख पहुंचा सकते हैं। वह तो आन्तरिक, आध्यात्मिक और नैतिक शक्ति से ही प्राप्त होता है।' ऐसी विचारवती और पति के जीवन को लोक-सेवा के लिए सहेजकर रखनेवाली पत्नी शास्त्रीजी को मिली जो दहेज में अपने साथ लौकिक सामग्री में एक चर्खा और कुछ गज खादी साथ लाई थी, लेकिन कितनी आत्मिक सम्पदा अपने साथ लेकर आई, यह बात शायद शास्त्रीजी को भी उस समय विदित न हुई होगी।

राजनीतिक जीवन का प्रारम्भ

जिन दिनों लालबहादुर शास्त्री ने इलाहाबाद में प्रवेश किया, यह नगर समूचे देश की राजनीतिक धमनी होने का महत्त्व प्राप्त कर चुका था। जवाहरलाल नेहरू और पुरुषोत्तमदास टण्डन शहरी राजनीति के ही नहीं, देहाती जीवन के अलमबरदार माने जाते थे। कुछ अर्थों में इलाहाबाद ज़िले और उत्तरप्रदेश के किसानों में जागृति लाने का श्रेय नेहरू से अधिक पुरुषोत्तमदास टण्डन को है। लालबहादुर शास्त्री को इन दोनों ही महापुरुषों की कृपा और सद्भावना प्राप्त हुई थी। जवाहरलाल नेहरू ने ही उन्हें जिला कांग्रेस कमेटी के महासचिव का कार्य-भार संभालने की प्रेरणा दी थी। बाद में वे उसके अध्यक्ष बने और 1930 से 36 तक इस पद पर आसीन रहे। इस बीच में वे इलाहाबाद म्युनिसिपैलिटी के सदस्य भी चुने गए। वे इलाहाबाद इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट के भी सदस्य बने और 4 वर्ष तक इस पद पर कार्य करते रहे। म्युनिसिपैलिटी में उन्हें स्व० आर०एस० पंडित और श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित के साथ कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ था। समितियों से संबंधित कार्यों में कौशल प्राप्त करने का अवसर उन्हें इन्हीं 6 वर्षों में प्राप्त हुआ।

कांग्रेस के पदाधिकारी के रूप में लालबहादुर शास्त्री को एक कुशल राजनीतिक संगठनकर्ता के रूप में आगे आने का अवसर मिला। मोतीलाल नेहरू इन्हें पुत्रवत् स्नेह करते थे। जवाहरलालजी इनकी निष्ठा, त्याग और तत्पर सिपाही की भांति काम करने के गुण पर मुग्ध थे। जब कभी अवसर आता वे इन्हें आगे बढ़ाने का प्रयास करते थे। शास्त्रीजी ने स्वयं स्वीकार किया था, "उन्हींके संकेत पर मैं जिला और नगर कांग्रेस कमेटी का मन्त्री और अध्यक्ष बना। जब वे यू० पी० सी० सी० के अध्यक्ष बने तो उन्होंने मुझे उसका महामन्त्री बना लिया। इसी तरह सन् 1951 में जब वे स्वयं कांग्रेस के अध्यक्ष बने तो मुझे महामन्त्री बना लिया। उन्हें मुझमें कुछ ऐसा विश्वास था कि वे जो कोई काम मेरे सुपुर्द करेंगे उसे मैं भलीभांति कर सकूंगा।'

इलाहाबाद के जीवन में भी उनका सारा समय संगठन की सेवा और

जेल-यात्राओं में ही गुजरा। एक सत्याग्रही के आदर्श गुणों से सम्पन्न लाल-बहादुर ने 1931-33 और 1933-34 के मास कारावास में बिताए। सन् 1930 से 1945 तक के 15 वर्षों में से शास्त्रीजी के जीवन का नौ वर्ष का समय जेल में ही गुज़रा। जेल-जीवन में भी उन्होंने सदैव एक आदर्श सत्याग्रही होने का परिचय दिया। जेल में ही उन्होंने कांट, हीगेल, हैरोल्ड लास्की, बर्ट्रेण्ड रसेल, आल्डुअस हक्सले और मार्क्स-लेनिन का अध्ययन किया। जेल में ही उन्होंने मैडम क्यूरी की जीवनी का अध्ययन किया। उन्होंने 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के इतिहास के रूप में एक ग्रंथ भी प्रारम्भ किया था, जिसे पूरा न कर सके। जेल में ही उन्हें एक आत्मानुशासित, साहसी और तपस्वी व्यक्ति के रूप में निखरने का अवसर मिला। देशभक्त जेल-यात्रियों में अनेक ऐसे थे जो आवेश की बाढ़ में बहकर जेल के फाटकों के पीछे पहुंच गए थे। ऐसे लोग छोटी-छोटी सुविधाओं, जैसे बीड़ी-सिगरेट के लिए जेल अधिकारियों के सामने गिड़गिड़ाते थे। लालबहादुर शास्त्री ने कभी किसी सुविधा की इच्छा प्रकट नहीं की; वरन् वे अपना लैम्प भी अपने जेल सहयात्री को देकर स्वयं कड़वे तेल के दिये से काम चलाते थे। एक बार उन्होंने एक सप्ताह में टालस्टाय का 'अन्ना कैरेनिना' पढ़ डाला था। उनका जेल-जीवन इतना नियमित और अनुशासित था कि उनके साथी उन्हें देखकर हैरान रह जाते थे। फिर भी जेल-अधिकारियों के अत्याचारों और दमन के मुकाबले वे ही सबसे आगे रहते थे।

अपने व्यक्तिगत सुख-सुविधा के बड़े से बड़े मोह से सहज मुक्त होना इस सत्याग्रही के लिए बिलकुल सामान्य बात थी। एक बार जब वे नैनी जेल में थे, उनकी पुत्री के सख्त बीमार होने का समाचार आया। उनके पैरोल पर रिहा होने की बात उठी। रिहाई के लिए जेल-अधिकारियों को यह लिखित आश्वासन देना पड़ता था कि बन्दी किसी आन्दोलन में भाग नहीं लेगा। हालांकि लालबहादुर शास्त्री का किसी आन्दोलन में शरीक होने का कोई विचार नहीं था, लेकिन उन्होंने कोई लिखित आश्वासन देने से साफ इन्कार कर दिया। आत्मसम्मानी शास्त्री के मनस्वी एवं सच्चे जीवन का परिचय जेलर को था। अन्ततः उसने इन्हें बिना किसी शर्त के

15 दिन के लिए रिहा कर दिया। शास्त्रीजी घर पहुंचे तब तक उनकी पुत्री चल बसी थी।

शास्त्रीजी के व्यामोह-मुक्त तापस जीवन का एक और उदाहरण जेल-यात्रा के दिनों में मिलता है। एक बार उनका पुत्र बीमार पड़ा। पता चला कि बच्चा टायफायड से पीड़ित है। शास्त्रीजी को सूचना दी गई। शास्त्रीजी के सामने फिर वही समस्या उपस्थित हुई। वे किसी भी कीमत पर अपने सिद्धांत से डिगने वाले नहीं थे। जेल-अधिकारियों ने उन्हें केवल एक सप्ताह के लिए पैरोल पर रिहा कर दिया। शास्त्रीजी जब घर पहुंचे तो बच्चे को 104 डिग्री बुखार था। टायफायड के बुखार में एक सप्ताह की अवधि का कोई महत्त्व नहीं होता। जेल-अधिकारियों ने इस बात पर जोर देना शुरू कर दिया कि लिखित आश्वासन दिए बिना वे एक सप्ताह की अवधि को बढ़ाने में पूर्णतः असमर्थ हैं। संयोग ऐसा था कि ज्यों-ज्यों पैरोल की अवधि समाप्त होने को आ रही थी, बच्चे की हालत बिगड़ती जा रही थी। थर्मामीटर का पारा 106 के अंक को छू रहा था।

एक तरफ सिद्धांत था और दूसरी तरफ अपने जिगर के टुकड़े का जीवन था। बच्चे के चेहरे पर उनकी आंखें टिकी थीं। समय की गति जैसे रुक गई थी। बच्चा प्रायः निश्चेतन था। उसके होंठों से परिक्लान्त स्वर आ रहा था :

"बाबूजी, मत जाइए बाबूजी !"

बुखार की तेजी से बच्चे के होंठों पर सोजिश आ गई थी। यह ऐसा वक्त होता है जब पत्थर के दिल भी पिघल जाते हैं। शास्त्रीजी की आंखें भी आंसुओं से तर-बतर हो उठी थीं। लेकिन इस लघु गौतम ने एकबारगी झटके के साथ अपने को व्यामोह से मुक्त कर लिया। उपस्थितों को अभि-वादन किया और मजबूत कदमों से बाहर निकल गया। उनके लिए ऐसा करना कैसे सम्भव हुआ ! जब कि वे स्वयं अपने साथियों को पैरोल पर रिहाई लेकर अपने जरूरी कामों को पूरा करने का परामर्श देते रहते थे। इतनी अविचल इच्छाशक्ति का स्वामी होना साधारण बात नहीं। गरीबी के भयंकर त्रास के समक्ष सीधे खड़ा रहना सामान्य परीक्षा नहीं होती। अपने जेल-जीवन में ही शास्त्री प्राणायाम और योगासन करते थे। व जिस

किसी जेल-यात्री को मोटा और बेढगा देखते उसे प्राणायाम और योगासन करने का परामर्श देते थे। उन्हें अपने जेल-जीवन में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के साथ रहने का भी सौभाग्य मिला, जिन्होंने अपरिग्रह और स्वाभिमान को भारतीय राजनीतिक जीवन में प्रतिष्ठित किया था। उन्हें जवाहरलाल नेहरू के साथ भी कारावास में रहने का अवसर प्राप्त हुआ जिनका व्यक्तित्व कांच के समान पारदर्शी और बेचैन रहता था। उन्होंने सागर की अतल गहराई और पर्वतों की सनातन ऊर्ध्वता को अपने आस-पास के लोगों के जीवन में देखा था। उनकी दृष्टि सुख-दुःख के प्रति समदर्शी हो गई। उनके राजनीतिक गुरु और अभियता राजर्षि टण्डन ने उनके बारे में प्रारम्भ में ही कह दिया था, 'समन्वय स्थापित करने, कठिन परिस्थितियों को अनुकूल बनाने और समझौते कराने में उनकी प्रतिभा अद्वितीय है।" सन् 1952 में नेहरू सरकार के सदस्य होने के बाद वे कांग्रेस और भारत सरकार के समन्वय एवं समाधानकर्ता और समझौता कराने वाले बन गए। नेहरूजी के शब्दों में "उच्चतम व्यक्तित्व वाले, निरन्तर सजग और कठोर श्रमशील व्यक्ति का नाम है लालबहादुर शास्त्री।"

कभी-कभी यह अनुमान करने को जी चाहता है कि भारतीय इतिहास की प्रथम अर्द्ध शताब्दी ने इतने महान् व्यक्तियों को इस देश के आंगन में बिखेर दिया, क्या ऐसा कभी हो पाता यदि अंग्रेज हाकिम की भयानक यातनाओं से भरी जेलें यहां न होतीं। महान् प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्तियों को भी साधना की राह से गुजरना पड़ता है। लालबहादुर शास्त्री के जीवन में 9 वर्ष के कारावास की अवधि को किसी हठयोगी की दीर्घकालीन तपस्या की समता में सहज ही रखा जा सकता था। जेल-जीवन ने उन्हें समय पर सोने और समय पर उठने, समुचित एवं अल्पाहार, सदाचरण, सत्निष्ठा, आत्म-परिहार एवं नियमित व्यायाम का अभ्यासी बनाया। ये सभी गुण साधुओं के गुण बताए गए हैं। इन गुणों को आत्मसात् करने से कोई भी व्यक्ति सहज रूप में धार्मिक बन जाता है। यदि किसी लोककर्मी में इन गुणों का प्रादुर्भाव हो जाए तो उस कर्मयोगी के लिए संसार का कौन-सा पद है जो अप्राप्य हो। जब कभी लालबहादुरजी को अ[illegible]

का अवसर मिला उन्होंने अपनी असाधारण कार्यक्षमता का परिचय दिया। सन् 1936 तक इलाहाबाद में स्थानीय प्रशासन में कौशल प्राप्त करने के बाद वे व्यापकतर राजनीतिक सेवा-क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए लखनऊ चले गए। कांग्रेस ने जब प्रांतीय विधानमण्डलों के लिए चुनाव लड़ने का निश्चय किया तो लालबहादुर शास्त्री भी श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित के साथ इलाहाबाद के निर्वाचन क्षेत्र से असेम्बली में निर्वाचित हो गए।

कम लोग जानते थे कि उत्तरप्रदेश ने भूमि-सुधार की दिशा में जो तत्परता और क्रान्तिकारिता का परिचय दिया उसके पीछे लालबहादुर जैसे 'छोटे' आदमी का भी महान् योगदान था। यू० पी० कांग्रेस ने एक गैरसरकारी समिति की स्थापना की थी, जिसका काम ज़मींदारी प्रथा का अध्ययन करना, किसानों की स्थिति का पता लगाना और देहाती अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन करना था। भूमि-सुधार के लिए सुझाव देना कोई आसान कार्य करना नहीं था। सदियों से चली आई ज़मींदारी और सामन्ती प्रथा देहाती जीवन में गहरी जड़ें जमाए हुए थी। महाजनों का बोलबाला था। अधिकांश किसानों और ज़मींदारों का जीवन महाजनों के सूद दर-सूद के शिकंजे में कसा हुआ था। समस्याएं अनेक थीं लेकिन प्राचीन परम्पराओं की जड़ें इतनी गहरी थीं कि किसी भी आकस्मिक परिवर्तन से ग्रामीण जीवन अस्त-व्यस्त हो सकता था। कृषि-प्रधान संयुक्त प्रांत में राजनीतिक क्षेत्र में भी ज़मींदारों का काफी प्रभाव था। ऐसी कठिन परि-स्थितियों में भूमि-सुधार का प्रारूप प्रस्तुत करना सरल काम न था।

इस समिति के अध्यक्ष थे पुरुषोत्तमदास टण्डन और संयोजक थे लालबहादुर शास्त्री। एक आन्दोलनकर्ता और दलीय संगठन में निष्णात लालबहादुर शास्त्री के सामने अनौपचारिक रूप में यह पहली प्रशासनिक परीक्षा थी। इस परीक्षा में भी वे सफल सिद्ध हुए। काशी विद्यापीठ की दर्शनशास्त्री की परीक्षा के समान यहां भी उन्हें प्रथम श्रेणी के अंक प्राप्त हुए। इस रिपोर्ट के तैयार करने में उनके अध्यवसाय की झांकी उनके पुराने मित्र और सहयोगी त्रिभुवननारायणसिंह के संस्मरणों में इस

प्रकार है :

"जब मैं बीते दिनों की याद करता हूं तो शास्त्रीजी के सम्बन्ध में मेरे सामने एक सुन्दर नक्शा खिंच जाता है। वे सत्यनिष्ठ ही नहीं, बड़े ही कर्मठ, अथक काम करने वाले, तपोनिष्ठ व्यक्ति थे। 35-36 की बात है, वे उत्तरप्रदेश कांग्रेस कमेटी द्वारा स्थापित उत्तरप्रदेश भूमि-सुधार कमेटी के मन्त्री थे और बाबू पुरुषोत्तमदास उसके सभापति। उस कमेटी में जिस परिश्रम से उन्होंने दिन-रात काम किया, उसके दर्शन उस वक्त सब लोगों ने किए होंगे, जो उस समय शास्त्रीजी के साथ रहे। वे रात-दिन उस कमेटी के सम्बन्ध में कुछ लिखने-पढ़ते रहते थे। रात को 11-12 बज जाते थे। लेकिन उनका काम खत्म नहीं होता था। तब मैं और शास्त्री जी साथ ही रहते थे। मेरी एक छोटी भतीजी ने एक दिन मुझसे पूछा, 'चाचा, शास्त्रीजी दिन-रात काम क्यों करते हैं ? इतने छोटे, कमज़ोर से आदमी हैं, इन्हें इतना काम नहीं करना चाहिए।' लेकिन वे कहां किसी की सुनते। बाद में इस विषय पर जब यह रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो उसने सारे देश को एक प्रशस्त मार्ग दिखलाया। धीरे-धीरे सभी राज्यों ने उस रिपोर्ट को स्वीकार किया। बाद में दोबारा जब कांग्रेस शासन में आई तो उसने इस रिपोर्ट के आदर्श पर पूरी तरह देश में जमींदारी-उन्मूलन किया।

यह रिपोर्ट कानून के गम्भीर अध्ययन, समस्या के पूर्ण निदान और आर्थिक प्रबन्ध की दृष्टि से इतनी गठी हुई और सम्पूर्ण थी कि उससे कांग्रेस के महाविद्वान् नेता भी प्रभावित हो उठे। उत्तर प्रदेश के तत्कालीन उच्च सरकारी पदाधिकारी भी उनके उस बड़े काम से प्रभावित हुए। अब तक अफसर लोग ही प्रशासनिक मामलों के एकमात्र अधिकारी पण्डित माने जाते थे।

यह रिपोर्ट प्रस्तुत करने के अतिरिक्त इन दिनों में लालबहादुर शास्त्री को अपनी विधायक एवं प्रशासनिक प्रतिभा के प्रयोग का अधिक अवसर नहीं मिला। लगभग ढाई वर्ष तक शासनरूढ़ रहने के उपरान्त सन् 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध के शुरू होने पर कांग्रेस ने पदत्याग कर दिया। लालबहादुर शास्त्री के लिए शायद यह समय और भी कठिन बनकर आने

वाला था। अंग्रेज शासकों ने जनतन्त्र और आजादी के नाम पर नात्सीवाद और फासिस्टवाद के विरुद्ध मोर्चा तो कायम कर दिया था लेकिन अपनी साम्राज्यशाही और औपनिवेशिक दासता को वे अपनी प्रजा के सिर से हटाने के लिए तैयार नहीं थे। कांग्रेस के समक्ष भी ऊहापोह की स्थिति थी। एक तरफ उसके सामने सत्य, अहिंसा और उच्च मानवीयता के सिद्धांत थे और दूसरी ओर हिटलर और मुसोलिनी डिक्टेटरों का विरोध करनेवाली ब्रिटिश सरकार के खिलाफ संघर्ष करके देश को आज़ाद करने का प्रश्न था।

हिटलर ने पोलैंड पर आक्रमण कर दिया और 3 सितम्बर, सन् 1939 को इंग्लैंड ने जर्मनी के ख़िलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। वायसराय ने केन्द्रीय विधानमण्डलों से भी परामर्श करने की आवश्यकता अनुभव नहीं की और अगले ही दिन यह घोषित कर दिया कि भारत जर्मन के विरुद्ध युद्धरत है। यह घोषणा भारत को उसकी गुलामी की कचोट पहुंचाने वाली थी। कांग्रेस ने सरकार से अपने युद्ध-उद्देश्य स्पष्ट करने को कहा। इस पूछताछ का उद्देश्य यह था कि सरकार यह घोषित कर दे कि युद्ध की समाप्ति पर वह भारत को आज़ादी दे देगी। यदि ऐसा आश्वासन मिल जाता तो कांग्रेस ब्रिटिश सरकार की सहायता करती, लेकिन उन्होंने फिर वही कहानी दोहराई कि आज़ादी मिलने से पूर्व साम्प्रदायिक विवाद का निर्णय होना ज़रूरी है। भारत को भली-भांति स्मरण था कि प्रथम विश्व-युद्ध में उसने अंग्रेज़ सरकार की सहायता की थी और युद्ध के उपरान्त उसे रौलेट ऐक्ट तथा जलियांवाला बाग गोलीकाण्ड इनाम में मिले थे। कांग्रेस कार्यसमिति के सामने अब कोई चारा नहीं रह गया। उसने प्रान्तीय सरकारों को यह हुक्म दिया था कि वे 31 अक्तूबर, 1939 को अपने पदों का त्याग कर दें।

ब्रिटिश सरकार का कहना था कि वह भारत को आज़ादी देने के लिए तैयार है क्योंकि वह उनकी गर्दन में बंधा हुआ भारी पत्थर है, लेकिन वह क्या कर सकती है। भारत अभी आज़ादी प्राप्त करने के लिए योग्य ही नहीं है। यह देखना हमारा नैतिक कर्त्तव्य है कि वहां कोई गृहयुद्ध न हो एवं अल्पमतों तथा अन्य वर्गों के हित पूर्णतः सुरक्षित रहें।

तत्कालीन वायसराय लार्ड लिनलिथगो किसी प्रकार का आश्वासन देने के लिए तैयार नहीं थे। उधर जुलाई, 1940 तक युद्ध का रुख नाजियों के पक्ष में होता जा रहा था। डेनमार्क, हालैंड,बेल्जियम और नार्वे ने समर्पण कर दिया था। जनतन्त्रीय सिद्धान्तों की समर्थक कार्यसमिति ने यह निश्चय किया कि कांग्रेस को ब्रिटिश सरकार की सहायता करना चाहिए। गांधीजी इस निश्चय से सहमत नहीं हो सके और उन्होंने कांग्रेस से इस्तीफा दे दिया। वायसराय अपनी कौंसिल में परामर्शदाता पद देने से कुछ भी अधिक करने के लिए तैयार नहीं थे। अन्त में महात्मा गांधी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन करने का निश्चय किया। सबसे पहले सत्याग्रही के रूप में विनोबा भावे चुने गए। उन्होंने युद्ध-विरोधी भाषण किया और उन्हें तत्काल गिरफ्तार कर लिया गया। इसके बाद सरदार पटेल और जवाहरलाल नेहरू की गिरफ्तारी हुई। लालबहादुर का नम्बर बहुत पीछे नहीं था। वर्ष के समाप्त होते-होते 11 कार्यसमिति सदस्य, 176 ए० आई० सी० सी० सदस्य, 59 भूतपूर्व मंत्री और विधानमण्डलों के लगभग 400 सदस्य जेलों में डाल दिए गए। 1941 के मध्य तक लगभग 14 हजार लोग एक साथ जेल में पहुंच गए।

इस प्रकार के सत्याग्रह का कोई सुपरिणाम निकलते न देखकर गांधी जी ने दिसम्बर 1941 को सत्याग्रह वापस ले लिया। सरकार ने सभी बन्दियों को रिहा कर दिया। यह शायद अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट का आग्रह था कि ब्रिटिश सरकार ने सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारतीय राजनीतिक गतिरोध को समाप्त करने के लिए भारत भेजा। यह मिशन सफल नहीं हुआ। उधर जापानी आक्रांता आगे बढ़ता जा रहा था। वह रेडियो से निरन्तर यह घोषित कर रहा था कि वे भारत को आजाद करने आ रहे हैं। संयोग की बात थी कि यही सुभाषचन्द्र बोस, जिन्होंने 1938 में हरिपुरा कांग्रेस में अध्यक्ष पद को ग्रहण किया था और जिन्हें त्रिपुरा में गांधीजी के विरोध के बावजूद पट्टाभि सीतारामैया को हराकर पुनः कांग्रेस अध्यक्ष चुना गया था, अब आजाद हिन्द फौज के सर्वोच्च सेनापति की हैसियत से पुन: भारत की धरती पर पैर रखने जा रहे थे।

जवाहरलाल नेहरू ने यह कहना शुरू कर दिया था कि जापानी

आक्रांता का मुकाबला करने के लिए भारतीय जनता घर-फूंक नीति का पालन करे और सरदार पटेल का कहना था कि जनता अंतिम सांस तक युद्ध करेगी। लेकिन गांधीजी इस विषम स्थिति की गम्भीरता को समझते थे। वे जानते थे कि अगर देश को कोई सुनिश्चित दिशा न दी गई तो अराजकता फैल सकती है। इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि भारतीय स्वाधीनता-संग्राम को एक ऐसा मोड़ दिया जाए ताकि सारी शक्ति अंग्रेजों को देश से बाहर निकालने में एक साथ लगा दी जाए; बम्बई में 8 अगस्त, 1942 को 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव स्वीकार किया गया और देशव्यापी आंदोलन छिड़ गया। 'करो या मरो' का नारा गांधीजी ने भारत को दिया। बड़े नेताओं की गिरफ्तारी के बाद देशव्यापी गुरिल्ला युद्ध छिड़ गया। ब्रिटिश सरकार ने कठोरतापूर्वक इस आंदोलन का दमन किया। थोड़े ही दिनों में एक हजार आदमी मारे गए और लगभग 3 हजार घायल हुए। इसी दमन का चक्र चलाते हुए तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री विन्स्टन चर्चिल ने अपनी ऐतिहासिक गर्वोक्ति में कहा था कि वे ब्रिटिश साम्राज्य को दिवालिया बनाने के लिए प्रधानमंत्री नहीं बने हैं।

इस कशमकश और प्राणों की बाजी लगाने वाले मुक्ति-संग्राम में लालबहादुर शास्त्री 'करो या मरो' के नारे को चरितार्थ कर रहे थे। बम्बई के स्मरणीय अधिवेशन से लालबहादुर शास्त्री यू० पी० के जत्थे के साथ वापस आए। पुलिस उनकी ताक में थी। वे पुलिस के चंगुल से बचने के लिए इलाहाबाद स्टेशन पर न उतरकर नैनी स्टेशन पर ही उतर गए थे। उनके साथियों ने उन्हें प्लेटफार्म रेलिंग के पार सशरीर उतार दिया।

अपने भूमिगत जीवन का प्रारम्भ उन्होंने आनन्द-भवन से ही शुरू किया। वे एक डुप्लीकेटिंग मशीन पर काम करते और भारी तादाद में प्रचार-साहित्य वितरित करते। उनके लिखे हुए बौद्धिक प्रचार-साहित्य को सम्भवतः उनके सन् '42 के इतिहास में स्थान मिला होता। लेकिन उनका यह गुप्त अड्डा पुलिस की नजर में आने लगा। एक दिन सहसा पुलिस ने आनन्द-भवन पर छापा मारा, लेकिन गनीमत रही कि वह श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित को गिरफ्तार करके ही लौट गई।

शास्त्रीजी को यह भान होने लगा था कि आनन्द-भवन में रहना

खतरे से खाली नहीं। इसलिए वे केशवदेव मालवीय के घर में चले गए। तारीफ यह कि केशवदेव खुद किसी दूसरे स्थान पर छिपे हुए थे। शास्त्रीजी ने देहातों में घूम-घूमकर लोगों को प्रोत्साहित करना और आदेश देना जारी रखा।

उनकी अपनी गिरफ्तारी का प्रकरण भी अत्यन्त रोमांचकारी और साहसिक है। इस दुर्धर्ष भूमिगत योद्धा के कारनामों से पुलिस तंग आ गई थी, लेकिन वे पकड़ में नहीं आते थे। शास्त्रीजी के मित्र अलगूराय शास्त्री कहते थे कि अपने छोटे कद के कारण पुलिस की नजर बचाने में वे दूसरों की अपेक्षा हमेशा अधिक सौभाग्यशाली सिद्ध हुए। अन्त में शास्त्रीजी ने यह नोटिस बंटवाया कि वे 20 अगस्त को 5 बजे इलाहाबाद चौक में घंटाघर के समीप कानून तोड़ेंगे और व्याख्यान देंगे। इस घटना का वर्णन उनके पुराने साथी रामसिंह ने इन शब्दों में किया है :

"जिस दिन उन्हें व्याख्यान देना था, कुछ पुलिस के अफसर शास्त्रीजी के घर गए और उनकी माता तथा पत्नी से कहा कि शास्त्रीजी अगर हों, तो उन्हें अपने को गिरफ्तार करा देना चाहिए। वे लोग नहीं चाहते थे कि शाम के वक्त वे चौक पहुंचें, जहां किसी भी समय गोलियां चल सकती हैं। माताजी ने कहा कि हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि शास्त्रीजी घर में नहीं हैं। अतएव हम आपकी किसी प्रकार सहायता नहीं कर सकते। शास्त्रीजी को भी इस बात की चिन्ता थी कि वे ठीक समय पर चौक में पहुंच पाएंगे अथवा नहीं। उन्होंने यह भी सोचा था कि वहां पहुंचने से पहले उन्हें अपनी माता, पत्नी और बच्चों से मिल लेना चाहिए। वे जहां थे, वहां से लगभग साढ़े चार बजे अपने घर पहुंचे। घर में सबने मिलकर वे चौक जाने के लिए तैयार हो गए। उनकी माता और पत्नी दोनों चिन्तित थीं। उन्होंने आग्रह किया कि वे अवश्य ही साथ जाएंगी। शास्त्रीजी ने कोई रास्ता न देख उनसे कहा कि अच्छा वे भी साथ चलें। शास्त्रीजी पैदल थोड़ी दूर चले, लेकिन माता और पत्नी के साथ होने के कारण वे सबके साथ एक ही तांगे में बैठ गए। तांगा चलता रहा और हर क्षण शास्त्रीजी समझते रहे कि अब गिरफ्तार होंगे। तांगा आखिर घंटाघर पहुंच ही गया। वहां हजारों की भीड़ इकट्ठी थी। लोगों को कम विश्वास

था कि शास्त्रीजी वहां पहुंच भी पाएंगे। जब लोगों ने उन्हें देखा तो हज़ारों के मुंह से प्रशंसा के शब्द निकले।

" घंटाघर के दायें-बायें, आगे और पीछे फौजी गाड़ियां खड़ी थीं। फौजी ट्रक भी मौजूद थे, जिनपर फौज के लोग संगीन ताने हुए चारों तरफ अपनी निगाह रखे हुए थे। सारा दृश्य उन्होंने बड़ा भयावना बना रखा था। शास्त्रीजी ने यह समझ लिया कि तांगे से वे कहीं और जा नहीं सकते। फिर वे उसी तांगे पर खड़े हो गए। तांगेवाला भी घबराया कि उसका क्या होने जा रहा है। परन्तु उसकी सहानुभूति शास्त्रीजी के साथ थी। ज्यों ही वे तांगे पर खड़े हुए, उन्होंने कहा, "सरकार को यहां रहने का कोई अधिकार नहीं है और उसे फौरन भारत से चला जाना चाहिए," त्यों ही पुलिस के अफसरों ने आकर शास्त्रीजी को गिरफ्तार कर लिया। ...पास में ही कोतवाली थी। शास्त्रीजी को वहां ले जाया गया। उनकी माता और पत्नी भी वहां तक तांगे में साथ गईं। जब उन्हें कोतवाली के अन्दर ले जाया गया तो स्वभावतः उनकी माता को चोट लगी और उन्होंने भी पुलिस के लोगों से कहा, 'मुझको भी गिरफ्तार करके ले चलो'।

इस प्रकार अग्नि-पुंज के समान वे 'करो या मरो' के व्रत को पूरा करते रहे। उनका जीवन जेल में जितना तपा, उससे अधिक यातनाएं उन्होंने जेल से बाहर भोगीं। उनके चेहरे पर शिकन कभी नहीं देखी गई। नंगी संगीनों के सामने भी उनके कदमों में कोई कम्पन कभी नहीं देखा गया। रचनात्मक मोर्चे पर, संगठन सम्बन्धी उलझनों को संभालने में वे जितने सफल थे, उतने ही वीर संकट के समक्ष सीना खोल देने में भी थे। यह भी एक आश्चर्य है कि परम्परा से शिक्षा, विद्वता और कलम का कौशल दिखानेवाले कायस्थ परिवार में उत्पन्न लालबहादुर अपनी कुल परम्परा में वीरता का उन्मेष करने में सफल हुए। आत्मत्याग को वीरता का रूप देनेवाले इस विचक्षण लघु सेनानी की देह की धातु को उन दिनों भी कोई देखता तो उसे यह भविष्यवाणी करने में कठिनाई नहीं होती कि वे दुर्लंघ्य बाधाओं को पार करके, उनपर अपनी विजय-पताका फहराकर उतने ही शान्त और मधुर भाव से आसपास की भीड़ से कहेंगे, "आपको यकीन नहीं था न ?"

नई दुनिया

सन् 1942 की अगस्त क्रान्ति देश को आजादी दिलानेवाली थी। यह स्थापना बहुत हद तक सही है। कांग्रेस नेता अगस्त 1942 से जून 1945 तक जेलों में रहे। इस बीच देश का राजनीतिक ढांचा प्रायः बदल गया। द्वितीय विश्व महायुद्ध को लोक-युद्ध की संज्ञा देनेवाले कम्युनिस्ट कांग्रेस से पृथक् हो गए। मोहम्मदअली जिन्ना जिन्हें 1937 के चुनाव में सिर्फ 5 प्रतिशत मत प्राप्त हुए थे, अब मुस्लिम लीग के जनक बन गए थे। जो मुसलमान जो लीग को राजनीतिक हैसियत देने में हिचकते थे, अब धीरे-धीरे उसके निकट सरकते जा रहे थे। मोहम्मदअली जिन्ना ने सन् 1940 में लीग के लाहौर अधिवेशन में पाकिस्तान की स्थापना का प्रस्ताव स्वीकार करा लिया था। कांग्रेस नेताओं की अनुपस्थिति में अंग्रेज सरकार की मदद से जिन्ना साहब की लीग ने मुसलमानों के दिलों पर पाकिस्तान की परिकल्पना को अच्छी तरह जमा दिया था। यह प्रश्न पूछना असंगत नहीं होगा कि क्या अगस्त क्रान्ति के दौरान कांग्रेस जैसे महावट-वृक्ष का घेरा कम हो गया था। कांग्रेस की नैतिक लड़ाई में भी अन्तर आ गया क्योंकि इस आन्दोलन के दौरान दोनों ओर खुलकर हिंसा बरती गई। सशस्त्र युद्ध द्वारा आजादी हासिल करने की इच्छा लोगों के दिलों में फिर से पैदा हो गई। अनुभवी नेताओं की अनुपस्थिति में बहादुर जनता ने थोड़े समय के लिए समानान्तर प्रशासन भी स्थापित कर लिया लेकिन यह अंग्रेजी सरकार के विरोध में अधिक दिन तक न टिक न सकी। महत्त्व-पूर्ण परिणाम यही निकला कि आजादी की आग पुलिस और सेना की बैरकों में भी पहुंच गई। राजनीतिक एकता की जबर्दस्त हानि के बावजूद अंग्रेज सरकार दमनकारी रवैया को दबाकर नहीं बैठ सकी।

उधर ब्रिटिश, अमरीकी और रूसी ताकत के तिकोने आक्रमण के सामने 7 मई, 1945 को जर्मन सरकार ने घुटने टेक दिए। नाजी हिटलर ने आत्महत्या कर ली। जापान अभी भी लड़ रहा था। सरकार ने सोचा कि कांग्रेस नेताओं को जेल से मुक्त कर दिया जाएगा तो जापान का अन्त भी शीघ्र ही हो जाएगा। यह अनुमान गलत नहीं था, क्योंकि अमरीका

हिरोशिमा और नागासाकी पर एटम बम न गिराता तो द्वितीय विश्व-महायुद्ध सुदूर पूर्व में इतने शीघ्र समाप्त नहीं होने वाला था।

इंग्लैंड में चर्चिल के अनुदार दल का भाग्य-सूर्य अस्त हो गया और लेबर पार्टी शासनारूढ़ हो गई। भारत के मित्र और दूरदर्शी प्रधानमंत्री श्री एटली ने सितम्बर 1945 में यह घोषित किया कि भारत को प्रांतीय स्वशासन फिर से प्रदान किया जाएगा, केन्द्रीय एवं प्रांतीय विधानमंडलों के चुनाव किए जाएंगे और एक संविधान सभा का निर्माण होगा जो इस देश के लिए एक संविधान बनाएगी और वायसराय की सलाहकार परिषद् का पुनर्गठन होगा। इस घोषणा का देश-भर में हर्ष के साथ स्वागत किया गया।

इसके पूर्व कि हम लालबहादुर शास्त्री की राजनीतिक रंगस्थली उत्तरप्रदेश की चर्चा करें यह कहना असंगत न होगा कि इस चुनाव में कांग्रेस को भारी सफलता मिली, परन्तु राजनीतिक शक्तियों का रंग पलट गया था और संकटपूर्ण भविष्य के आसार नज़र आने लगे थे। केन्द्रीय विधानमण्डल में कांग्रेस को 91 प्रतिशत स्थान प्राप्त हुए और आठ प्रांतों में उसे स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। मुस्लिम लीग को केन्द्रीय विधानमण्डल में केवल 31 स्थान प्राप्त हुए लेकिन बंगाल और सिंध में उसे स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो गया। पंजाब में कांग्रेस की मदद से यूनियनिस्ट पार्टी ने मंत्रिमण्डल का निर्माण किया। यह बात अब पूर्णतः स्पष्ट हो गई थी कि मुस्लिम लीग की मर्ज़ी के बिना अंग्रेज़ सरकार से किसी प्रकार का राजनीतिक समझौता होना असम्भव था।

लालबहादुर शास्त्री की ज़बर्दस्त संगठन-प्रतिभा, मूक सेवाभाव एकान्त निष्ठा का ही पुरस्कार था कि पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त ने उन्हें यू०पी० पार्लमेंटरी बोर्ड का मंत्री बनाया। उत्तरप्रदेश में कांग्रेस के चुनाव अभियान का दायित्व पूरी तरह लालबहादुर शास्त्री के कन्धों पर आ गया। शास्त्रीजी फिर एक बार अवसर के अनुरूप महाप्रयास में जुट गए। उत्तरप्रदेश कांग्रेस कमेटी का दफ्तर ही उनका घर बन गया। वे संस्था के सभी अंगों से भलीभांति परिचित थे। प्रांत के किसी भी कोने से आए कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं से वे सुपरिचित थे। नये कार्यकर्त्ताओं को कभी यह

अनुभव न होने देते थे कि वे उनसे अपरिचित हैं। एक बार मिलकर कभी न भुलाए जाने और दूसरी भेंट में नाम लेकर सम्बोधित होने पर कोई भी कार्यकर्ता उनपर मुग्ध हो जाता था। विवरण की विस्तृत जानकारी और अमुक कार्य के लिए अमुक कार्यकर्ता की योग्यता को परखना और उसमें विश्वास पैदा करना ये लालबहादुर की विशेषताएं थी, जिनके रहते वे अपने राजनीतिक अग्रजों की दृष्टि में उत्तरोत्तर ऊंचे उठते गए। मुस्लिम लीग के अनौपचारिक गढ़ उत्तरप्रदेश में कांग्रेस को भारी विजय प्राप्त हुई।

पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त कांग्रेस संस्था और प्रशासन में नये रक्त का संचार करना चाहते थे। वे यह चाहते थे कि नौजवान कार्यकर्त्ता प्रशासन में आएं, प्रशिक्षण प्राप्त करें और महत्त्वपूर्ण पदों पर काम करें; पंडित पंत ने लालबहादुर शास्त्री को अपना संसदीय सचिव नियुक्त कर लिया। संसदीय सचिवों की सूची में इनके साथ केशवदेव मालवीय, चन्द्रभानु गुप्ता और जगनप्रसाद रावत जैसे लोग भी थे। वे सभी नेता दूसरी श्रेणी के अत्यन्त मुखर, प्रतिभासम्पन्न और शक्तिशाली नेताओं में गिने जाते थे। लेकिन वे शायद अपनी महत्त्वाकांक्षा के तूफान को सहन करने में उतने समर्थ नहीं थे, जितने लालबहादुर शास्त्री। पंडित पन्त देर तक काम करने के अभ्यस्त थे। लालबहादुर शास्त्री भी उनकी छाया के समान उन्हींके पदचिह्नों पर चलने वाले थे। आगे चलकर ऐसा संयोग होने लगा कि वे साथ-साथ दफ्तर छोड़ते। प्रायः पंडित पंत की गाड़ी में बैठकर ही वे घर जाते। इस तरह उन्हें पंडित पन्त के बेहद निकट आने का अवसर मिला। पंडित पन्त व्यक्तियों के भारी पारखी थे। उन्हें भी यह अवसर मिला कि निकट से इस उभरते व्यक्तित्व का अध्ययन कर सकें। फलतः उसी नेता के मुख से, जो अपने विरोधियों द्वारा अपनी कर्त्तव्यनिष्ठ कठोरता के लिए 'कुमायूं का नरभक्षी चीता' पुकारा जाता था, लालबहादुर ने 'प्रियदर्शी, कठोर परिश्रमी, निष्ठावान्, विश्वसनीय और विवादमुक्त होने जैसे विशेषण प्राप्त किए।

अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा को प्रदर्शित करने के अनेक अवसर भी लालबहादुर शास्त्री को मिले। सन् 1947 में जब रफी अहमद किदवई को

नेहरूजी ने केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में बुला लिया तो पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त ने शास्त्रीजी को उत्तरप्रदेश के पुलिस एवं यातायात मंत्री के पद पर नियुक्त किया। राजनीतिक जीवन में इसे आकस्मिक उन्नति ही माना जाएगा, लेकिन काम चाहे जितना कठिन क्यों न हो उसके अनुरूप ऊंचा उठने की असाधारण श्रम-साधना से शास्त्रीजी सदैव सम्पन्न रहे। उत्तर-प्रदेश का पुलिस विभाग अंग्रेज़ सरकार के भक्तों से भरा पड़ा था। लीग के प्रभाव के कारण कुछ साम्प्रदायिक मनोवृत्तिवाले अफसर भी पुलिस में थे। वे दिन साम्प्रदायिक दंगों और झगड़े-फसादों के थे। किसी भी मंत्री के लिए इस स्थिति में संतुलित रहना कठिन था। लालबहादुर शास्त्री ने प्रांतीय रक्षादल का व्यापक संगठन किया। इस दल का काम साम्प्रदायिक झगड़ों को शांत करने में पुलिस तथा गैर सरकारी संगठनों की सहायता करना था। आगे चलकर यह दल समाजविरोधी आचरण करने वाले तत्वों को समाप्त करने में प्रशासन का सहायक बना। शास्त्रीजी ने अनेक जेल यात्रियों को इस रक्षा दल में भर्ती करके उन्हें ऊंचे पदों पर स्थापित किया। पुलिस की शासक प्रवृत्ति में नया मोड़ पैदा किया। आज यही प्रान्तीय रक्षादल राष्ट्रीय जनसेना के रूप में विकसित किया जा रहा है।

परिवहन मंत्री के रूप में उनके सुधार को अत्यन्त प्रगतिशील माना जाता है। उत्तरप्रदेश के पौरुषेय क्षेत्र में जहां आज तक भी गिनी-चुनी महिलाएं राजनीति में हैं; शास्त्रीजी ने राष्ट्रीयकृत परिवहन में महिलाओं को बस-कण्डक्टरों के स्थान पर नियुक्त किया। उनके इस आदेश को जानकर सरकारी अहलकारों का अमला और जनता दोनों चकित रह गए। शास्त्रीजी को लोगों को सहसा चकित कर देने का अभ्यास बहुत पुराना था।

जीवन-दर्शन

सामान्यतः हर व्यक्ति किसी न किसी जीवन-दर्शन से प्रेरित होता है। हो सकता है कि उसका जीवन-दर्शन इतना अस्पष्ट और अविकसित हो

कि किसी खूबसूरत परिभाषा में न बांधा जा सकता हो। यह जरूरी भी नहीं होता। जिस नौका में बैठकर आदमी नदी पार करता है, या समुद्र-यात्रा करता है, यह जरूरी नहीं कि नौका कि निर्मिति की सभी विशेषताओं से सुपरिचित हो। अलबत्ता जब डुबा देनेवाले तूफानों में से कोई नौका सुरक्षित तट तक ले जाती है, तो यह जरूरी हो जाता है कि उसके कील-कांटों की खूबियों को जाना-परखा जाए।

लालबहादुर शास्त्री के प्रधानमंत्री पद पर आसीन होते ही इस देश के जनमानस में एक अजीब कौतूहल पैदा हुआ। कारण शायद यह था कि वे सहसा आकृष्ट करनेवाले व्यक्तित्व के स्वामी नहीं थे। यदि लालबहादुर शास्त्री प्रधानमंत्री न बन पाते, तो निःसंदेह अनेक लोगों को सहानुभूति-जनित दुःख होता, लेकिन बन गए तो कौतूहल हुआ और हर व्यक्ति के सीने से एक राहत की उच्छ्वास निकल गई—'चलो, ठीक हुआ'—लोगों ने सोचा। शायद इसलिए कि यह ठिगना व्यक्ति अविज्ञेय नहीं था, दूर नहीं था, 'छोटा आदमी' था। सबसे मेल रखता था। सबके चंगुल से निकलकर किधर जा सकता था! कैसे लालबहादुर शास्त्री लोगों के दिलों में और दुनिया के दिलों में अनायास यह आत्मीयतापूर्ण विश्वास पैदा कर सके? यह रहस्य प्रेरित करता है कि गहराई से उनके जीवन-दर्शन में पैठा जाए। शास्त्रीजी ने अपने जीवन में कभी यह नहीं कहा कि मैं 'ऐसा हूं और मेरी मान्यताएं अमुक हैं।' जो वे थे उसका परिचय देनेवाले काम उन्होंने अनेक किए। काम सभी लोग करते हैं। एक कार्य सुपरिणाम से पुरस्कृत होता है, दूसरा केवल कार्य होता है। कार्य किए बगैर व्यक्तिमत्ता बनती ही नहीं। शास्त्रीजी के जीवन-दर्शन को निरूपित करने का प्रयास मात्र एक दुस्साहस भी हो सकता है, किन्तु शून्य से संज्ञा तक पहुंचने वाला व्यक्ति किसी न किसी सुनिश्चित विचार, ध्येय और निष्ठा के बिना चल नहीं सकता। शायद चलने की चेतन प्रेरणा को ही जीवन-दर्शन कहते हैं।

एक ऐसे रास्ते पर चलकर मंजिल तक पहुंचना, जहां बड़ी तेजी से चलनेवालों का जमघट हो, अपने-आपमें एक महान उपलब्धि होती है। कुछ यात्री तो दूसरों को अच्छी तरह चलते देखकर ही थक जाते हैं। कुछ यह सोचकर किनारे हो जाते हैं कि चलने से क्या लाभ, जब किस्मत में

सबसे पीछे रहना ही लिखा है। ऐसी निराशा के चक्र में फंसने की अपवाद-रहित परिस्थितियां शास्त्रीजी के जीवन में हमेशा रही हैं। लोग यह भूल जाते हैं कि विद्यार्थीकाल में देशभक्ति ने जब राजनीति का बाण उनको मार दिया था तब भी उन्होंने दर्शन को ही अपना विषय चुना था। शायद वे कन्फ्यूशस के इस उपदेश से सुपरिचित होंगे कि अपने-आपको जान लेना ही दुनिया को जान लेना है।

गीता में कहा गया है कि जो मनुष्य कर्म में अकर्म को देखता है, वह मनुष्यों में ज्ञानी मनुष्य है। वह योगी है और उसने अपने सब कर्मों को कर लिया है। जब तक मनुष्य अनासक्त भावना से कर्म करता है, उसका मानसिक सन्तुलन विचलित नहीं होता। प्राणायाम साधक और योगासनों में प्रवीण लालबहादुर शास्त्री के जीवन के प्रत्येक मोड़ पर आसक्ति अपने सुन्दर मुखड़े पर आवरण डालकर निराश लौट गई। उन्होंने जीवनपर्यन्त केवल कर्म किया। इलाहाबाद जिले की कांग्रेस कमेटी से लेकर उत्तरप्रदेश के पुलिस मंत्री और भारत सरकार के स्वराष्ट्र मन्त्री और प्रधानमन्त्री बनने तक केवल कर्म ही कर्म! एक व्यक्ति जो अपने सरीखे दूसरे को संभाल नहीं सकता, जिन विभागों में देश के चुने हुए शरीरवान लोग छोटे से लेकर बड़े पदों पर काम करते हैं, उन विभागों को संभालने में शास्त्रीजी के मन में हीनभाव क्यों नहीं पैदा हुआ? इसका उत्तर है, "जो उदासीन (निस्पृह या तटस्थ) की भांति गुणों द्वारा विचलित न होता हुआ बैठा रहता है, जो यह समझता हुआ कि केवल गुण ही कर्म कर रहे हैं, अविचलित एवं अलग रहता है···जो सुख और दुःख को समान समझता है, जो अपने आत्म में ही स्थित रहता है, जो मिट्टी के ढेले, पत्थर और स्वर्णखण्ड को समान समझता है, जो प्रिय और अप्रिय वस्तुओं में एक-सा रहता है, जिसका मन स्थिर और निन्दा और स्तुति को एक-सा समझता है···जो मान और अपमान में समान रहता है, जो मित्रों और शत्रुओं के प्रति एक-सा है—जो अनन्य भक्तियोग से सेवा करता है।" वह व्यक्ति क्या है—स्थितप्रज्ञ, और वह कौन था—लालबहादुर शास्त्री।

ये शब्द प्रशंसा के नहीं हैं। इन्हें जीवन में ढले हुए दर्शन का अनु-

संधान मात्र समझा जाना चाहिए। रेलवे स्टेशन पर खड़ा हुआ पुलिस-मैन जिस व्यक्ति को परिचय दिए जाने पर भी, अपना मन्त्री मानने के लिए विश्वास न जुटा सके, उस व्यक्ति के पीछे के सूक्ष्म को समझने के लिए अधिक शब्द-महिमा का आना स्वाभाविक है। कठोपनिषद में कहा गया है : "यह विश्ववृक्ष जिसकी जड़ें ऊपर की ओर हैं और शाखाएं नीचे की ओर, शाश्वत है।"

जो व्यक्ति संघर्ष की विषम से विषम स्थिति में इस शाश्वत सत्य से नज़र मिलाए रखता है, वह आकार में लघुता प्राप्त होने पर भी महत्ता को प्राप्त होता है। शास्त्रीजी के जीवन को देखो तो वह निर्भीक, निस्संग अभिमान और मोह से मुक्त, बुरी आसक्तियों को जीतनेवाला, कर्मरूपी भक्ति में संलग्न, गुरुभक्त, मित्रों-अभिभावकों के प्रति कृतज्ञ, बड़ों का आशीष लेने के लिए लालायित जीवन की एक लम्बी कहानी से अधिक कुछ भी नहीं थे।

भारतभूमि कर्मयोगियों से कभी खाली नहीं रही। साधना की लम्बी अवधि में विशेषणों और गुणों को चरितार्थ करनेवाले महामहिम व्यक्तियों की विरासत का हकदार बनना सरल नहीं होता। 'लोकमान्य' व्यक्ति अनेक हो सकते हैं, लेकिन भारत ने यह पद बाल गंगाधर तिलक को दिया, 'महात्मा' की संज्ञा मोहनदास करमचन्द गांधी को मिली। 'युवक सम्राट' जवाहरलाल नेहरू, 'आधुनिक चाणक्य' चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, 'देश-रत्न' तथा 'अजातशत्रु' डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद, 'राजर्षि' पुरुषोत्तमदास टंडन 'पंजाब केसरी' लाला लाजपतराय माने गए। आनेवाली पीढ़ियों के लिए इन विशेषणों को अर्जित करने की स्थिति आसानी से बनने वाली नहीं थी लेकिन जीवन से नये उपमेय और उपमानों का जन्म होता है। इस नवीन परम्परा का श्रीगणेश लालबहादुर शास्त्री से शुरू हो गया। आगामी पीढ़ियों के लिए वे मार्ग प्रशस्त कर गए।

महाभारत के शान्तिपर्व में उल्लेख है कि 'अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।' एक महापुरुष का कथन है कि यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारे होंठ त्रुटियों से बचें, तो सावधानी से पांच बातों का ध्यान रखो : किस विषय में तुम्हें बोलना है, किससे तुम्हें बोलना है, और कैसे, कब और

कहां बोलना है। लालबहादुर शास्त्री के सार्वजनिक जीवन या कारावास के जीवन के जहां कहीं भी कुछ संस्मरण मिले, उनमें उनकी यही विशेषता बार-बार दोहराई जाती रही कि व दूसरे के दृष्टिकोण को भली प्रकार सुनकर अपनी बात कहते थे। दूसरे के मन में पैठकर अपनी बात कहते थे। उनके समीप कार्य करने वाले लोगों को सदैव यह अभिमान करने का अवसर मिलता था कि उनकी क्षमता और प्रतिभा लालबहादुर शास्त्री से किसी प्रकार कम नहीं, लेकिन लालबहादुर अपने ध्येय की ओर एकान्त-अखण्ड निष्ठा से बढ़ते थे, साथ चलने वालों को अपने कन्धे का सहारा देते थे और यह इच्छा रखते थे कि उनका सहयात्री उनसे पहले ही मंज़िल पर पहुंच जाए, तो वे अधिक सुखी होंगे। फलतः दूसरों की उपलब्धियां उनकी उपलब्धियां बन जाती थीं, दूसरों की पीड़ा उनकी पीड़ा बन जाती थी और दूसरों का सुख उनका सुख बन जाता था।

उनके जीवन-दर्शन को समन्वयवादी कहा जाता है। यह एक गवेषणा का विषय है कि शास्त्रीजी ने इस जीवन-दर्शन को अंगीकार करके अपने सार्वजनिक आचरण का निर्धारण किया था अथवा परिस्थितियों से जूझ-जूझकर यह अनुभूति प्राप्त की थी कि समन्वय के बिना 'साथ चलने' की उक्ति चरितार्थ नहीं हो सकती। डा० भगवानदास के श्री चरणों में बैठकर उन्होंने दर्शनशास्त्र का पारायण किया था। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव लालबहादुर शास्त्री पर था। उन्होंने अपने आचार्य के व्यक्तित्व का वर्णन इन शब्दों में किया है, "एक अद्भुत व्यक्तित्व, उच्च सौन्दर्यबोध से सम्पन्न, तथापि इतना सरल, अपनी रुचियों और आदतों में इतना भद्र। दर्शनशास्त्र पर उनके भाषण प्रभावित करने वाले होते थे। उनके दृष्टि-कोण में हमेशा एक ताज़गी रहती थी।"

डा० भगवानदास स्वयं समन्वयवादी दार्शनिक माने जाते थे। लाल-बहादुर शास्त्री ने किसी मतवाद के प्रति कभी कोई आग्रह व्यक्त नहीं किया। उनके बारे में उचित जानकारी के अभाव में कुछ मिथ्या धारणाएं भी बनीं। उनके प्रशंसकों और आलोचकों ने दबे स्वर में कभी-कभी उन्हें वर्चस्विताहीन कबीरपंथी पुकारा, लेकिन तथ्यों से यह धारणा ईर्ष्यालु सिद्ध होती है। दरअसल ऐसे शब्द बोलना जो दूसरों को बुरे न लगें, जो

सत्य हों, प्रिय हों और हितकारी हों, ऐसे वक्ता को दुर्बल नहीं वाणी का तपी कहा गया है।

मैडम क्यूरी की जीवनी के अनुवाद ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने अपनी मान्यताओं की संक्षिप्त झांकी प्रस्तुत की थी, जिससे उनके जीवन-दर्शन की प्रारम्भिक रूपरेखा अंशतः स्पष्ट होती है :

"श्रीमती क्यूरी की जीवनी मैंने जेल में पढ़ी। मुझपर जो उसका गहरा प्रभाव पड़ा उसीके फलस्वरूप यह पुस्तक है। श्रीमती क्यूरी की छोटी पुत्री ईव क्यूरी द्वारा लिखित जीवनी का अंग्रेजी अनुवाद विन्सेंट शीन ने किया है। उसका ही अनुवाद करने का मैंने प्रयत्न किया है। अनुवाद स्वतन्त्र है। पुस्तक को छोटा कर दिया है। अनेक अध्यायों के बहुत-से अंश छोड़ दिए हैं और कुछ को दो में विभाजित कर दिया है और नाम भी दूसरे रख दिए हैं। समस्त पुस्तक में अंग्रेजी अनुवाद के भावों को लेकर उसे परिवर्तित स्वरूप तथा अपनी भाषा में रखने की चेष्टा की है।

"जेल में प्रायः छोटी-छोटी चीजें भी बड़ी प्रतीत होती हैं। स्वभाव की निर्बलता के साथ-साथ मस्तिष्क पर भी एक विशेष प्रकार का प्रभाव पड़ता है और बन्दी साधारणतः अधिक भावुक हो जाता है। परन्तु जेल-जीवन के कारण श्रीमती क्यूरी की जीवनी का मुझपर अधिक प्रभाव पड़ा, ऐसा मैं नहीं समझता। मेरी क्यूरी की जीवनी जो भी पढ़ेगा, प्रभावित होगा और उसका जीवन उसे असाधारण तथा महान् प्रतीत होगा। साधन बहुत क्षीण तथा मार्ग कंटकाकीर्ण रहते हुए भी एक बालिका ने स्वतः प्रयास से जितनी भी सफलता प्राप्त की, वह प्रत्येक नर-नारी के लिए अनुकरणीय है। हमारे देश के रहने वालों में यह धारणा बनी हुई है कि यूरोप की महिलाएं केवल सुखी जीवन बिताने की खोज में रहती हैं तथा सब सुविधाएं सुलभ होने से उनको कुछ काम करना नहीं पड़ता और उनकी रुचि सिनेमा, खेल, वेश-भूषा और प्रेमालाप में ही रहा करती है। मेरी का जीवन इस धारणा को समूल नष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

"हमारे देश में कन्याओं ने जहां कुछ शिक्षा प्राप्त की कि वे काम से दूर भागती हैं, कौटुम्बिक जीवन के छोटे-मोटे उत्तरदायित्व से घबरा

लगती हैं, सेवक और सेविकाओं की उन्हें प्रतिक्षण आवश्यकता प्रतीत होती है और अपने से काम करने का अभ्यास छूट जाता है। थोड़ा-सा धन जिसके पास आ जाए उसकी भी यही दशा होती है। मेरी ने उच्चतम शिक्षा प्राप्त की और कुछ धनोपार्जन भी किया, परन्तु अपने हाथ से काम करना बन्द नहीं किया। गृह-कार्य, बच्चों की सेवा-सुश्रूषा तथा कुटुम्ब का सब उत्तरदायित्व वह अन्त तक निःसंकोच भाव से निभाती रही।

"वैसे तो मेरी में एक नहीं अनेक गुण थे, परन्तु उसकी कुछ बातें विशेष थीं। महान् वैज्ञानिक होते हुए भी वह समाज और देश को नहीं भूली थी। पोलैंड की स्वतन्त्रता उसे सदा प्रिय रही। अपने विशेष प्रयत्नों से उसने वहां एक रेडियम भवन की स्थापना की। फ्रांस में भी वह ऐसी संस्था और प्रयोगशाला स्थापित करने में सफल हुई। महासमर के अवसर पर तो उसका कार्य अभूतपूर्व रहा।

"बुद्धि प्रधान होते हुए भी नैतिकता को वह किसी तरह कम महत्त्व नहीं देती थी। उसके जीवन में नैतिक विशृंखलता के लिए कोई स्थान नहीं था। उसमें ज्ञान और कर्म का सुन्दर समन्वय दीख पड़ता है। छोटे से छोटे और बड़े से बड़े काम में वह जीवनपर्यन्त समान रस लेती रही। पुस्तक-लेखन और अध्ययन तथा अनुसंधान और आविष्कार को ही उसने प्रधानता नहीं दी, जीवन के जिस क्षेत्र में उसने भाग लिया, उसे सतत कर्मशील रहकर सुन्दर बनाने का यत्न किया।

"मेरी को किसी धर्म में विश्वास नहीं था। यह कुछ लोगों को उसके जीवन की एक कमी जान पड़ेगी। परन्तु धर्म का वर्तमान स्वरूप बाह्य रीति-रिवाज और दैनिक कृत्यों का एक पुंज बन गया है और धार्मिक जगत् के विचार तथा व्यवहार में असीम अन्तर दिखाई पड़ता है। यह अचम्भे की बात नहीं कि कोई सत्यनिष्ठ व्यक्ति इस विरोधात्मक परिस्थिति तथा रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह कर बैठे। धर्म के मूल तथा आध्यात्मिक स्वरूप को समझने तथा थोड़ी आस्था रखनेवाला व्यक्ति धर्म की वर्तमान अवस्था से भी निराश न होकर अपने जीवन में उसका सन्तुलन कर सकता है। मेरी ने इसका निराकरण अपने मानव-प्रेम तथा महान

चरित्र में कर लिया था। मानव के लिए उसके हृदय में अगाध प्रेम और आदर था। वह किसीको क्लेश नहीं पहुंचा सकती थी और न किसीके उत्थान में बाधक थी। अस्तेय की वह प्रतिमूर्ति थी। उसने जीवन में सदा देना ही सीखा, लेना नहीं। न उसे कभी धन की इच्छा हुई और न किसी दूसरे ऐहिक सुख की।

"मेरी का जीवन निस्सन्देह तप और त्याग का था। उसे बड़े से बड़ा निर्णय करने में विलम्ब नहीं होता था। रेडियम को पेटेण्ट न कराने का निश्चय उसने देखते-देखते किया। अपने दूसरे नोबेल पुरस्कार के धन को वह भूली बैठी थी, और महासमर के समय उसकी एक-एक पाई उसने राष्ट्र को अर्पित कर दी। सत्कार्यों की ओर उसकी सहज प्रवृत्ति थी, किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता उसे न होती।"

"मेरी ने अपने जीवन-काल में ही बड़ी ख्याति प्राप्त कर ली, परन्तु उसके कारण उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। प्रसिद्धि और प्रभुता से किसी प्रकार का अहंकार या अभिमान उत्पन्न न हो यह एक महान साधना है। मेरी 'मैं' को भूल गई थी, उसने अपने कार्य में अपने को तन्मय कर दिया था।। आइंस्टाइन के ये शब्द मेरी के बड़प्पन को प्रकट करते हैं— 'ख्यातिप्राप्त व्यक्तियों में मेरी ही एक ऐसी थी जिसे प्रसिद्धि ने किसी प्रकार नष्ट नहीं किया।'"

"इन बातों से यह नहीं समझना चाहिए कि वह कोई ऐसी व्यक्ति थी जिसका अनुसरण करना असम्भव हो। मोह, स्नेह, अभिलाषाएं और आकांक्षा सबके समान उसमें भी थी। बचपन से ही उसे अधिक से अधिक विद्याध्ययन और विदुषी बनने की लालसा थी। अत्यन्त गरीबी उसे रुचिकर नहीं थी, चाहे वह उसपर सर्वदा मौन ही रही। उसने भी प्रेम किया और निराश हुई, इसका उसे दुःख था। फिर पीयरे जैसे पति के प्राप्त होने पर उसे शक्ति प्राप्त हुई तथा सन्तान से उसे अपना जीवन पूर्ण प्रतीत हुआ। गवर्नमेंट द्वारा जो सहायता और सम्मान पियरी को उसके कार्य में मिलना चाहिए था उसके न मिलने से खिन्न रही। कुटुम्बियों से उसको मोह था, उनके सुख में वह सुखी और दुःख में वह दुःखी होती। अपने देश और अपनी नगरी से प्रेम तथा साफ-सुथरे वस्त्र, स्वच्छ गृह, वाटिका और

लगती हैं, सेवक और सेविकाओं की उन्हें प्रतिक्षण आवश्यकता प्रतीत होती है और अपने से काम करने का अभ्यास छूट जाता है। थोड़ा-सा धन जिसके पास आ जाए उसकी भी यही दशा होती है। मेरी ने उच्चतम शिक्षा प्राप्त की और कुछ धनोपार्जन भी किया, परन्तु अपने हाथ से काम करना बन्द नहीं किया। गृह-कार्य, बच्चों की सेवा-सुश्रूषा तथा कुटुम्ब का सब उत्तरदायित्व वह अन्त तक निःसंकोच भाव से निभाती रही।

"वैसे तो मेरी में एक नहीं अनेक गुण थे, परन्तु उसकी कुछ बातें विशेष थीं। महान् वैज्ञानिक होते हुए भी वह समाज और देश को नहीं भूली थी। पोलैंड की स्वतन्त्रता उसे सदा प्रिय रही। अपने विशेष प्रयत्नों से उसने वहां एक रेडियम भवन की स्थापना की। फ्रांस में भी वह ऐसी संस्था और प्रयोगशाला स्थापित करने में सफल हुई। महासमर के अवसर पर तो उसका कार्य अभूतपूर्व रहा।

"बुद्धि प्रधान होते हुए भी नैतिकता को वह किसी तरह कम महत्त्व नहीं देती थी। उसके जीवन में नैतिक विशृंखलता के लिए कोई स्थान नहीं था। उसमें ज्ञान और कर्म का सुन्दर समन्वय दीख पड़ता है। छोटे से छोटे और बड़े से बड़े काम में वह जीवनपर्यन्त समान रस लेती रही। पुस्तक-लेखन और अध्ययन तथा अनुसंधान और आविष्कार को ही उसने प्रधानता नहीं दी, जीवन के जिस क्षेत्र में उसने भाग लिया, उसे सतत कर्मशील रहकर सुन्दर बनाने का यत्न किया।

"मेरी को किसी धर्म में विश्वास नहीं था। यह कुछ लोगों को उसके जीवन की एक कमी जान पड़ेगी। परन्तु धर्म का वर्तमान स्वरूप बाह्य रीति-रिवाज और दैनिक कृत्यों का एक पुंज बन गया है और धार्मिक जगत् के विचार तथा व्यवहार में असीम अन्तर दिखाई पड़ता है। यह अचम्भे की बात नहीं कि कोई सत्यनिष्ठ व्यक्ति इस विरोधात्मक परिस्थिति तथा रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह कर बैठे। धर्म के मूल तथा आध्यात्मिक स्वरूप को समझने तथा थोड़ी आस्था रखनेवाला व्यक्ति धर्म की वर्तमान अवस्था से भी निराश न होकर अपने जीवन में उसका सन्तुलन कर सकता है। मेरी ने इसका निराकरण अपने मानव-प्रेम तथा महान

चरित्र में कर लिया था। मानव के लिए उसके हृदय में अगाध प्रेम और आदर था। वह किसीको क्लेश नहीं पहुंचा सकती थी और न किसीके उत्थान में बाधक थी। अस्तेय की वह प्रतिमूर्ति थी। उसने जीवन में सदा देना ही सीखा, लेना नहीं। न उसे कभी धन की इच्छा हुई और न किसी दूसरे ऐहिक सुख की।

"मेरी का जीवन निस्सन्देह तप और त्याग का था। उसे बड़े से बड़ा निर्णय करने में विलम्ब नहीं होता था। रेडियम को पेटेण्ट न कराने का निश्चय उसने देखते-देखते किया। अपने दूसरे नोबेल पुरस्कार के धन को वह भूली बैठी थी, और महासमर के समय उसकी एक-एक पाई उसने फ्रांस को अर्पित कर दी। सत्कार्यों की ओर उसकी सहज प्रवृत्ति थी, किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता उसे न होती।"

"मेरी ने अपने जीवन-काल में ही बड़ी ख्याति प्राप्त कर ली, परन्तु उसके कारण उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। प्रसिद्धि और प्रभुता से किसी प्रकार का अहंकार या अभिमान उत्पन्न न हो यह एक महान साधना है। मेरी 'मैं' को भूल गई थी, उसने अपने कार्य में अपने को तन्मय कर दिया था।। आइंस्टाइन के ये शब्द मेरी के बड़प्पन को प्रकट करते हैं—'ख्यातिप्राप्त व्यक्तियों में मेरी ही एक ऐसी थी जिसे प्रसिद्धि ने किसी प्रकार नष्ट नहीं किया।"

"इन बातों से यह नहीं समझना चाहिए कि वह कोई ऐसी व्यक्ति थी जिसका अनुसरण करना असम्भव हो। मोह, स्नेह, अभिलाषाएं और आकांक्षा सबके समान उसमें भी थी। बचपन से ही उसे अधिक से अधिक विद्याव्यसन और विदुषी बनने की लालसा थी। अत्यन्त गरीबी उसे रुचिकर नहीं थी, चाहे वह उसपर सर्वदा मौन ही रही। उसने भी प्रेम किया और निराश हुई, इसका उसे दुःख था। पियरी जैसे पति के प्राप्त होने पर उसे शान्ति प्राप्त हुई तथा सन्तान से उसे अपना जीवन पूर्ण प्रतीत हुआ। गवर्नमेंट द्वारा जो सहायता और सम्मान पियरी को उनके कार्य में मिलना चाहिए था उसके न मिलने से खिन्न रही। कुटुम्बियों से उसको मोह था, उनके सुख में वह सुखी और दुःख में वह दुःखी होती। अपने देश और अपनी नगरी से प्रेम तथा साफ-सुथरे वस्त्र, स्वच्छ गृह, वाटिका और

भ्रमण आदि में उसे रस था। अस्वस्थ रहने से वह घृणा करती। ये सब भावनाएं दूसरे साधारण व्यक्तियों के समान उसमें भी थीं। बस मेरी ने केवल इसका ध्यान रखा कि जीवन में इन भावनाओं को स्थान देते हुए वह उन नैतिक तथा दूसरे वास्तविक सत्य को न भूल जाए जो व्यक्ति और समाज के विकास की आधारशिला है।

"महिला होते हुए भी मेरी की समानता थोड़े ही पुरुष कर सकते हैं। उसका जीवन निराशा में आशा, निर्धनता में स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाने वाला है। उससे शिक्षा मिलती है कि मनुष्य कितना ही बड़ा क्यों न हो, उसका समाज के प्रति कुछ कर्त्तव्य है। यह आवश्यक है कि दूसरों की पीड़ा तथा जनसमूह की कठिनाइयां उसके हृदय में वेदना उत्पन्न करें, और वह जाने कि जगत में किस प्रकार आचरण करना चाहिए।

"व्यक्ति अथवा समाज के विकास में जहां प्रतिबन्ध है, वहां कष्ट और पीड़ा है। विकास और उन्नति का अवसर प्रत्येक क्षेत्र में होना चाहिए—हमारे देश में स्त्रियों की उन्नति का मार्ग अवरुद्ध है। स्त्रियों का अपना व्यक्तित्व है, यह हमें स्वीकार करना है और उनका क्या कर्त्तव्य है, यह उन्हें स्वयं परखना है। यह पुस्तक शायद इसमें भी सहायक हो।"

इस भूमिका को ज्यों का त्यों उद्धृत किया गया है। ध्यान से इस भूमिका को पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसे लालबहादुर शास्त्री ने अपने जीवन का घोषणापत्र ही इस भूमिका में सरल भाव से प्रस्तुत कर दिया था। मैडम क्यूरी के लिए उन्होंने जो कुछ लिखा, वह इन्हीं शब्दों में, वरन् इनसे भी कुछ अधिक चमकते हुए विशेषणों के साथ, शास्त्रीजी के लिए हमेशा लिखा जाएगा।

लालबहादुर शास्त्री ने जीवन के किसी भी क्षण से कोई दुस्साहसिक राजनीतिक खेल नहीं खेला। उन्हें मालूम था कि दुस्साहस का अन्त हमेशा अच्छा नहीं निकलता। उन्होंने सुभाष बोस जैसे आग्नेय देशभक्त को लाहौर और कराची अधिवेशनों में आस्था और अनास्था के पहियों के बीच पिसते देखा था। डैमोक्रैटिक पार्टी की स्थापना से लेकर फार्वर्ड ब्लाक की स्थापना तक सुभाषचन्द्र बोस भारतीय तरुणाई के महान् नायक बने रहे। लालबहादुर शास्त्री के मन में तरुणावस्था से ही क्रान्तिकारी

आन्दोलन के प्रति सहानुभूति रही, लेकिन मजबूत नौका पर बैठकर तूफान से टक्कर लेने की नीति का उन्होंने कभी परित्याग नहीं किया।

एक बार सर मोहम्मद इकबाल ने नेहरूजी को कहा था, "आप एक देशभक्त हैं और जिन्ना एक राजनीतिज्ञ। आपका और उनका क्या मुकाबला हो सकता है।" यह बात दूसरी है कि जिन्ना की राजनीति सफल हो गई, लेकिन यह उनकी व्यक्तिगत सफलता सिद्ध हुई। पाकिस्तान की जनता इस राजनीति से लाभान्वित नहीं हुई। शास्त्रीजी भी तथाकथित राजनीति के प्रति लगाव नहीं रखते। राजनीति में भी उनका आचरण दार्शनिकों जैसा होता था। उन्हें यह विश्वास था कि विरोधी के समक्ष दिल खोलकर रख देना, उसे सोच-विचार करने के लिए उचित अवसर देना ही सबसे बड़ी डिप्लोमेसी है।

राजनीतिक और व्यक्तिगत जीवन में उन्होंने हास्य-विनोद को एक अमोघ अस्त्र बना लिया था। सन् 1949 में जब लालबहादुर शास्त्री उत्तरप्रदेश के गृहमन्त्री थे तो कानपुर में भारत और राष्ट्रमण्डलीय क्रिकेट मैच देखने गए। इस मैच के दौरान छात्रों ने कुछ ऐसी हरकतें कीं, जिनके परिणामस्वरूप पुलिस को हस्तक्षेप करना पड़ा। इस पर छात्र उबल पड़े और पूरे मैदान में उन्होंने एक तूफान बरपा कर दिया। लालबहादुर जी ने जो घटनास्थल पर मौजूद थे, छात्रों को समझाया। उनकी एक ही मांग थी कि क्रिकेट के मैदान में लाल पगड़ी नहीं दिखलाई पड़नी चाहिए।

अगले दिन छात्रों ने जब पुलिस को फिर देखा तो आपे से बाहर हो गए। उन्होंने गृहमन्त्री से इस बात की सफाई चाही। लालबहादुर शास्त्री ने मुस्कराते हुए कहा कि आप लोगों को मालूम होना चाहिए कि मैंने अपना वायदा पूरा किया है। आप लोगों ने यह मांग की थी कि लाल पगड़ी क्रिकेट के मैदान में नहीं दिखलाई देनी चाहिए। अगर आप एक भी लाल पगड़ी मैदान में दिखा सकें तो आपके असंतोष को दूर किया जा सकता है। शास्त्रीजी ने छात्रों के साथ एक जबरदस्त मजाक किया था। पुलिस तो मैदान में आई लेकिन उसने लाल पगड़ी के स्थान पर खाकी पगड़ी पहनी हुई थी। ऐसा शास्त्रीजी के आदेश के अनुसार किया गया था। छात्रों ने जब यह अनुभव किया कि उनके गृहमंत्री ने इस कामयाब

मज़ाक का शिकार उन्हें बना दिया है, तो चारों ओर हास्य-विनोद का वातावरण छा गया और समस्या बिना किसी झंझट के समाप्त हो गई।

गम्भीर से गम्भीर अवसर उपस्थित होने पर शास्त्रीजी अपनी विनोदवृत्ति को अनुशासित नहीं रख पाते थे। 1964 के नवम्बर मास में वृहत्तर बम्बई म्युनिसिपल कारपोरेशन ने कमला नेहरू पार्क में उनके सम्मान में एक आयोजन किया था। इस पार्टी में काजू, सैंडविच, वेफर, बिस्कुट, फल, ठंडे पेय, चाय, कॉफी, आइसक्रीम इत्यादि प्रचुर मात्रा में थीं। शास्त्रीजी ने कहा कि प्रधानमन्त्री होने के बाद मैं पहली बार किसी पार्टी में शरीक हुआ। उन्होंने यह भी कहा कि महाराष्ट्र के मुख्यमन्त्री जब कभी दिल्ली आते हैं तब राज्य में खाद्यान्न की कमी की शिकायत करते हैं, लेकिन मैं देखता हूं, यहां खाने-पीने की कमी नहीं। शायद नाईक अब दिल्ली आने पर खाद्यान्न की कमी की शिकायत नहीं करेंगे। श्री नाईक इस समारोह में खुद मौजूद थे। ये दिन थे जबकि श्री नाईक ने केन्द्रीय खाद्य-मन्त्रालय की अन्न-वितरण नीति के खिलाफ जबर्दस्त आवाज उठाई थी। आगे चलकर महाराष्ट्र सरकार ने केन्द्र से शिकायत करने की अपेक्षा दो वर्ष के अंदर राज्य को अन्न-पूर्ति की दृष्टि से आत्म-निर्भर बनाने की घोषणा करना ही बेहतर समझा।

मज़ाक के मूड में जब वे आते थे तो अपने को भी नहीं बख्शते थे। भारत-पाकिस्तान युद्ध के दिनों में वे बार-बार कहते थे कि अय्यूब साहब ने उनके छोटे कद को देखकर भारत पर हमला कर दिया। सान्ताक्रुज़ हवाई अड्डे पर उन्होंने एक बार महाराष्ट्र के आवास, संचार, सिंचाई और विद्युतमन्त्री श्री मधुसूदन वैराले को देखकर कहा था, कम से कम एक व्यक्ति तो उनके आकार का उन्हें मिला।

अन्तरविश्वविद्यालय समारोह के अवसर पर वे एक बार अपनी पोशाक की चर्चा करके लोगों को हंसाते रहे। उन्होंने कहा कि नेहरूजी ने अपनी मृत्यु के कुछ घण्टे पूर्व उनसे यह कहा था कि वे उनके साथ राष्ट्र-मण्डलीय प्रधानमंत्री सम्मेलन में शरीक होने के लिए लंदन चलें। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि वे क्या-क्या पहनें। शास्त्रीजी ने कहा कि वे पाजामा पहनना नहीं जानते हैं। इस पर नेहरूजी ने कहा कि कपड़े

गिनवा तो लें, बाकी बात बाद में देखी जाएगी। शास्त्रीजी ने अत्यन्त विनोद के स्वर में कहा कि उन्होंने जिंदगी में केवल एक ही बार चूड़ीदार पाजामा पहना है और उन्हें अनुभव हुआ कि इसे उतारना काफी मुश्किल है।

कम लोगों को यह मालूम है कि उत्तरप्रदेश में कायस्थ परिवारों में शादी के समय चुस्त पाजामा और अचकन पहनना रस्म का जरूरी हिस्सा होता है।

सार्वजनिक भाषणों के दौरान गम्भीर समस्याओं पर बातें करते-करते सहसा उनका विनोद उभर आता था। एक बार कांग्रेसजनों के बीच उन्होंने कहा था कि "आगामी दस वर्षों तक मन्त्रियों को तपस्या का जीवन बिताना पड़ेगा। तपस्या के जीवन से मेरा यह मतलब नहीं कि वे दाढ़ी बढ़ाकर, कमण्डल लेकर आपके सामने आएंगे। मेरा कहने का मतलब यह है कि अपने अधिकारों का गलत और ज्यादा उपयोग नहीं करेंगे। मैंने ताकीद की थी कि मेरे मकान को सजाने के लिए नया सामान नहीं लिया जाएगा। पुराने सामान से ही मकान सजाया गया। मगर उसमें भी ऐसे-ऐसे गलीचे हैं, जिनपर चलने में डर लगता है। सोचने लगता हूं कि क्या जूता उतारकर उनपर चला जाए।"

जूता उतारकर चलने का मुहावरा अनेक अर्थों से भरा हुआ है।

एक और अवसर पर बम्बई के चौपाटी मैदान में वह कह रहे थे कि "बिना त्याग और बलिदान की भावना के देश का निर्माण नहीं किया जा सकता। मैं जो कहता हूं कि लोग महीने में एक दिन चावल न खाएं— उसकी प्रगतिवादी तर्कविज्ञ और वैज्ञानिक आलोचना करते हैं। जहां तक मेरा प्रश्न है, मुझे अभी भी याद है कि 1920-21 में अंग्रेजों का राज्य था, कपड़ा नहीं मिलता था, उन दिनों मैं अंगोछा ही पहनकर काम चलाता था।"

इस उक्ति में बड़ा भारी मजाक नहीं है, लेकिन शास्त्रीजी ने अपने अंगोछा पहने होने की कल्पना को इस तरह शब्दों में बांधा था कि हास्य के फव्वारे फूट पड़े।

कभी-कभी उनके साथ भी बढ़िया मजाक हुआ है, ि

विनोदपूर्ण स्मरण करते थे। जिन दिनों वे उत्तरप्रदेश के गृहमंत्री पद पर थे, वे आगरा पधारे। आगरा के सरकारी अधिकारियों तथा नागरिकों को उनके आगमन की पूर्व-सूचना थी। भारी संख्या में लोग उनके स्वागत के लिए उमड़ पड़े। पुलिस-अफसर तो विशेष रूप से सक्रिय थे। इत्तफाक यह हुआ कि शास्त्रीजी का डिब्बा अपेक्षित स्थान से कुछ आगे निकल गया। अपने स्वभाव के अनुसार वे चुपके से डिब्बे से उतरे और सामने के तीसरे दरजे के गेट से आगे बढ़ने लगे। परन्तु वहां पर एक पुलिस कांस्टेबल तैनात था। उसने इन्हें रोका और कहा : "एक तरफ ठहर जाओ। जानते नहीं हमारे पुलिस मंत्री इसी गाड़ी से आए हैं।"

उन्हीं दिनों की एक और घटना है। एक बार शास्त्रीजी दौरे पर जा रहे थे। उनकी कार से कोई दुर्घटना हो गई। प्रातःकाल का समय था। शास्त्रीजी पैदल चलकर थाने में पहुंचे और ड्यूटी पर तैनात दीवान से कहा कि वे उनकी रिपोर्ट दर्ज करें। उन दिनों के थाने, थाने का दीवान, क्या हुकूमत थी उसकी ? इधर शास्त्रीजी सीधे-सादे लिवास में। दीवान ने कहा, "बैठ जाओ, अभी रिपोर्ट नहीं लिखी जाएगी।" हो सकता है दीवान को रिपोर्ट लिखने की वाकई फुर्सत न हो, लेकिन ऐसा होता तो शास्त्रीजी उससे यह न पूछते कि यहां के थानेदार साहब कहां हैं ? दीवान साहब के रहते हुए कोई उनसे यह पूछे कि थानेदार साहब कहां हैं ? इत्तफाक यह हुआ कि थानेदार साहब फौरन ही आ गए और उन्होंने शास्त्रीजी को पहचान लिया, वरना दीवान साहब अपनी मज़ाक को काफी संगीन बनाकर छोड़ते।

अवसर की गरिमा को जानकर हाज़िरजवाबी का कमाल भी उनके सभी मित्र अच्छी तरह जानते हैं। शास्त्रीजी उत्तरप्रदेश के गृहमन्त्री थे, तो बनारस जब भी आते थे तो अपने गुरु निष्कामेश्वरजी के घर अवश्य जाते थे। एक बार उनकी पत्नी ने कहा, "बहादुर, तू इतना बड़ा हो गया है और खाली हाथ चला आता है, देख अलगू (अलगूरायजी) जब भी आता है, बच्चे के लिए मिठाई लेकर आता है।"

तो शास्त्रीजी ने सरल भाव से कहा, "भाभीजी, मुझे कोई नया काम करने में बड़ा संकोच लगता है। मैं बड़ा नहीं हुआ हूं, केवल बड़ा काम

मुझे करना पड़ता है।"

अगर उनके स्थान पर कोई दूसरा होता तो इस सीधे प्रश्न के आने पर वाकई बड़ी मुश्किल में फंस जाता। लेकिन जिसने कभी यह माना ही नहीं कि महत्त्वपूर्ण पद पर बैठकर आदमी बड़ा होता है, वह कैसे दिखाए कि वह बड़ा हो गया है। वे तो मन्त्रिपद पर नियुक्त होने के बाद भी फटे कपड़ों को सीकर काम चलाते रहे। मंत्री होना बड़ी बात भले ही हो, लेकिन आर्थिक दृष्टि से मंत्रियों के वेतन गुज़ारे-भर के लिए भी काफी नहीं होते। शास्त्रीजी ने एक बार कहा था कि काफी बड़े हो जाने पर भी उनके पास इतना पैसा कभी नहीं हुआ कि बच्चों को बम्बई की यात्रा करा सकते।

स्व० निष्कामेश्वर मिश्र के सुपुत्र राधेकृष्ण मिश्र ने उनके संस्मरणों में अनेक अन्तरंग बातें लिखी हैं। उनकी ज्येष्ठ कन्या के विवाह के अवसर पर जब बराती भोजन करने बैठे तो सादा निरामिष भोजन देखकर कुछ लोगों ने कहा, "यह कायस्थों की बारात है, लेकिन इसमें न मांस, न मदिरा।" शास्त्रीजी ने अविचलित भाव से कहा कि इस निरामिष भोजन को कृपा करके ग्रहण करें। मैं शाकाहारी हूं, न मांस-मदिरा छूता हूं न औरों को खिलाता-पिलाता हूं।

एक बराती ने कहा, "क्या हम ब्राह्मणों की बारात में आए हैं?"

'आप जैसा भी समझें, मेरे संस्कार ऐसे ही पड़ गए हैं।"

शास्त्रीजी अपने वर्तमान में कभी खाए नहीं। अतीत में जो देखा था उसे भूलते नहीं थे, भविष्य में जो कुछ घटित हो सकता है उसके लिए हमेशा तैयार रहते थे। वे राजनीति में एक सच्चे दार्शनिक के समान जीते थे। यही कारण है कि उन्हें जनतान्त्रिक जीवन में नवीन परम्पराएं स्थापित करने का सौभाग्य मिला था।

बृहत्तर प्रशासकीय भूमिका

कांग्रेस की संगठन-सम्बन्धी गतिविधियों में लालबहादुर शास्त्री का योगदान एक कार्यकर्त्ता और नेता की हैसियत से ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। आजादी हासिल होने के बाद कांग्रेस के चुनाव में उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। सन् 1951 में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति, जब जवाहरलाल नेहरू और पुरुषोत्तमदास टंडन के मध्य सैद्धांतिक मतभेद उपस्थित होने के कारण एक नाज़ुक दौर से गुज़र रही थी उस समय भी लालबहादुर शास्त्री अपनी विश्वसनीयता और संगठन के प्रति अटूट निष्ठा के कारण संकट के निवारण का साधन बने। कांग्रेस के अध्यक्ष-पद के चुनाव में पुरुषोत्तमदास टंडन की विजय तो हुई थी, लेकिन नेहरूजी ने उनकी कार्यसमिति में रहना स्वीकार नहीं किया। विचार-भेद को समाप्त करने के लिए टंडनजी ने भरसक प्रयास किया लेकिन नेहरूजी का एक ही उत्तर था कि कांग्रेस में जो सैद्धांतिक गिरावट आ गई है उसे समाप्त करने का एक ही तरीका है कि वे अपने विचारों को स्पष्ट रूप से कांग्रेस के सामने रखें। यदि पुरुषोत्तमदास टंडन स्वयं अध्यक्ष पद से इस्तीफा न देते और नेहरूजी उनके स्थान पर कांग्रेस-अध्यक्ष न बनते, तो संस्था का शीराजा बिखर जाता। मध्यस्थता का कार्य उस समय लालबहादुर शास्त्री के कंधों पर आ गया था।

उनके सामने भयंकर दुविधा थी। टंडनजी को वे अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। लोकसेवक मंडल में टंडनजी की अध्यक्षता के अन्तर्गत उन्होंने राजनीति का सबक सीखा था और उनके समर्थन तथा सहयोग से नवीन दायित्वों की पूर्ति करने में सफलता प्राप्त की थी। दूसरी तर[illegible] जवाहरलाल नेहरू थे जो राष्ट्र के प्रतीक एवं शास्त्रीजी के आदर्श ना[illegible] थे। वैचारिक दृष्टि से शास्त्रीजी जवाहरलालजी के ही अधिक निकट[illegible] इस विरोध को समाप्त करने के लिए उन्होंने लखनऊ से नई दिल्ली [illegible] यात्रा की थी। जवाहरलालजी से उन्होंने यह मांग की कि मतभेद की [illegible] पाटने का कोई तरीका ज़रूर खोजा जाना चाहिए। शास्त्रीजी ने [illegible] स्वीकार किया था कि नेहरूजी ने उनकी बात को गम्भीरता से सुना [illegible]

एक ही दिन में प्रातः, मध्याह्न और रात्रि को शास्त्रीजी से भेंट करने के लिए राजी होना ही इस बात का सबूत था कि यदि टंडनजी विरक्ति में भरकर स्वयं इस्तीफा न देते तो भी स्वयं लालबहादुर शास्त्री निश्चय ही कोई तरीका निकाल लेते जिसमें दोनों नेता एक-दूसरे के निकट आ जाते। इसमें भी यही चुनौती शास्त्रीजी के समक्ष उस समय उपस्थित हुई जब अध्यक्ष-पद स्वीकार करने के बाद नेहरूजी ने उन्हें राजधानी में बुलाकर कांग्रेस का महासचिव पद स्वीकार करने का निमन्त्रण दिया। शास्त्रीजी ने एक क्षण के लिए भी झिझक नहीं महसूस की और उत्तरप्रदेश सरकार के गृहमंत्री पद को छोड़कर वे दिल्ली आ गए।

यह वह समय था जबकि देश नये संविधान को स्वीकार करने के उपरान्त पहली बार आम चुनाव की तैयारी कर रहा था। कांग्रेस संगठन को सक्रिय करना और देश-भर में चुनावों के लिए उचित उम्मीदवारों को ढूंढ़ना, चुनाव अभियान का तत्परता और सक्रियता के साथ संचालन करना अत्यन्त कठिन कार्य था, लेकिन शास्त्रीजी ने इस चुनौती को स्वीकार करके अपने काम में रात और दिन एक कर दिया था।

इन दिनों वे नेहरूजी के साथ उनके तीनमूर्ति निवासस्थान पर ठहरते थे। उनकी व्यस्तता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि उन्होंने खाना खिलानेवाले सेवक को यह आदेश दे दिया था कि भोजन का समय आने पर वह उनकी थाली चुपचाप कमरे में रख जाया करे। बहुधा यह होता था कि यह थाली ज्यों की त्यों रखी रह जाती थी। इस चुनाव अभियान के दौरान उन्होंने कांग्रेस के उच्च नेताओं से लेकर क्षेत्रीय कार्यकर्ताओं तक से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित किया था। सारे देश का दौरा किया था। हर महत्त्वपूर्ण निर्वाचन-क्षेत्र में चुनाव-व्यूह की रचना की थी। इस चुनाव में कांग्रेस को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। इस सफलता का श्रेय शास्त्रीजी के हिस्से में कम नहीं माना जा सकता।

चुनाव के बाद नेहरूजी ने उनसे आग्रह किया कि वे राज्यसभा के लिए चुनाव लड़ना स्वीकार करें। यह आमन्त्रण शास्त्रीजी ने स्वीकार किया और वे राज्यसभा के सदस्य बन गए। इसके बाद अपनी कर्मठता के बल पर उनके कन्धों पर अन्यान्य मन्त्रि-पदों का भार सौंपा गया

विलक्षण संयोग की बात है कि सन् 1957 में जबकि देश पुनः आम चुनाव के लिए तैयारी कर रहा था। शास्त्रीजी की सेवाएं कांग्रेस-प्रचार अभियान का संगठन करने के लिए पुनः उपलब्ध हो गईं। इसके बाद सन् 1962 के चुनाव में नेहरूजी को फिर शास्त्रीजी की संगठन-क्षमता पर निर्भर करना पड़ा। नेहरूजी, श्रीमती इन्दिरा गांधी और लालबहादुर ने मिलकर कांग्रेस के उम्मीदवारों की सूची तैयार की। सम्भवतः यह शास्त्री जी का अनुरोध था कि इस चुनाव में कम से कम एक-तिहाई कांग्रेस उम्मीदवार नई पीढ़ी के ही चुने गए। कांग्रेस में नये रक्त के संचार करने की जरूरत काफी वक्त से महसूस की जा रही थी। राजनीति का कोई भी विद्यार्थी इस बात से असहमत न होगा कि व्यापक प्रशासकीय अनुभव के साथ-साथ कांग्रेस-संगठन के सार्वदेशिक व्यक्तित्व से इतना निकट परिचय उनके किसी भी समकालीन कांग्रेस नेता को प्राप्त नहीं हो सका था। अपने-अपने क्षेत्रों में कांग्रेस के वरिष्ठ नेता जो निश्चय ही दलीय स्थिति की दृष्टि से शास्त्रीजी की अपेक्षा वरिष्ठ थे, उनका प्रभाव संगठन के माध्यम से उस सीमा तक सार्वदेशिकता प्राप्त नहीं कर सका, जितना शास्त्रीजी को प्राप्त हुआ। संभवतः यह महत्त्वपूर्ण अनागत भविष्य में अधिक महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्वों को पूरा करने का परोक्ष निमन्त्रण था।

केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में शास्त्रीजी को पहली बार रेल तथा यातायात का विभाग सौंपा गया। उनके समय में यह विभाग मन्त्रिमण्डलीय दृष्टि से विदेश मन्त्रालय, स्वराष्ट्र मन्त्रालय, वित्त तथा वाणिज्य-उद्योग मन्त्रालय के बाद पांचवें नम्बर पर आता था। पहली ही बार केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में प्रवेश और पांचवें नम्बर में मन्त्रालय की ज़िम्मेदारी का मिलना इस बात का साक्षी था कि जवाहरलाल नेहरू को उनकी कार्य-क्षमता में अटूट विश्वास था।

इस दायित्व को स्वीकार करने के बाद उन्होंने एक प्रशासक के कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए अपने-आपको वैज्ञानिक कार्य-पद्धति के प्रतीक रूप में ढाल लिया था। पुराने आई० सी० एस० अफसरों के अभिमान की दीवार को तोड़कर मन्त्रालय के कार्य को गतिमान् बनाना, पहले के ढांचे में सुधार करना और नवीन सुधारों के लिए भूमिका तैयार करना आसान काम नहीं

था। शास्त्रीजी की काम करने की अपनी शैली थी। जिस मन्त्रालय से वे सम्बद्ध होते, उसकी फाइलों में एक विद्यार्थी की तरह डूब जाते थे। प्रत्येक विषय की पृष्ठभूमि से विस्तृत परिचय प्राप्त करते थे। विवरण और आंकड़े उनकी अंगुलियों पर आ जाते थे। इस तरह फाइलों के जाल से वे अपने को मुक्त करके अपने स्वतन्त्र निष्कर्ष निकालते थे। तब वे विभागीय अफसरों से बातचीत करते थे। स्पष्ट, सोद्देश्य शब्दों में अपने मन्तव्य प्रकट करते थे, उनके आदेशों में कहीं उलझन या संशय नहीं होता था। वे अपने अफसरों से सम्मानपूर्ण व्यवहार ही अर्जित नहीं करते थे, अपनी आकर्षण शक्ति से उन्हें प्रभावित भी करते थे और उनमें एक उत्साहपूर्ण कर्मनिष्ठा भी जगाते थे। दफ्तरी काम-काज पर अधिकार प्राप्त करने के बाद वे संसद के समक्ष जटिल से जटिल प्रश्न का उत्तर देने के लिए तैयार रहते थे। कार्य की जो प्रणाली उन्होंने अपने राजनीतिक जीवन में अपनाई उसी का व्यवहार प्रशासकीय कार्य में भी करते थे। वे अपने अफसरों के सुझाव धैर्यपूर्वक सुनते थे, सहानुभूति के साथ उनपर विचार-विमर्श करते थे, अपने सुझावों को उनके कन्धों पर थोपते नहीं थे वरन् सम्मिलित रूप से निश्चय करके फिर अफसरों को अपने कार्य में पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर देते थे।

रेलमन्त्री की हैसियत से शास्त्रीजी ने अनेक उल्लेखनीय कार्य किए। विभाजन के बाद रेल यातायात-व्यवस्था प्रायः छिन्न-भिन्न हो गई थी। विकास-योजनाओं की पूर्ति के लिए साजो-सामान ठीक समय मोहय्या करना, अन्न तथा औद्योगिक विकास की प्रगति के लिए आवश्यक सामग्री का एक स्थान से दूसरे स्थान तक नियत समय पर पहुंचाना आवश्यक था जब कि हालत यह थी कि रेल यातायात की अविश्वसनीयता के कारण सड़क यातायात के प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ रहा था, क्योंकि ज्यादा भाड़ा देने के बाद भी उन्हें यह विश्वास था कि सड़क परिवहन द्वारा उनका सामान उचित समय पर सुरक्षित रीति से पहुंच जाएगा।

मालवाही डिब्बों का अभाव, और प्रबन्ध की अव्यवस्था के कारण रिश्वत का बाजार गर्म हो रहा था। जिसे भ्रष्टाचार की प्रतियोगिता ही माना जा सकता था। चलती मालगाड़ियों, गाड़ियों और रेल्वे ...

चोरी की घटनाओं में बहुत अधिकता हो गई थी। लालबहादुरजी ने रेलवे-बोर्ड की सहायता के लिए एक सुरक्षा परामर्शदाता की नियुक्ति की, जिसको यह काम सौंपा गया कि वह पहले मौजूद वाच एण्ड वार्ड संगठन को मजबूत और सक्रिय बनाने के लिए उचित उपायों की सिफारिश करे। इस परामर्श का सुपरिणाम यह हुआ कि रेलवे प्रोटेक्शन फोर्स (रेलवे सुरक्षा विभाग) बना। रेलवे सुरक्षा विभाग के महानिदेशक को दोहरा स्थान प्राप्त हुआ। उसे रेलवे बोर्ड में सुरक्षा सम्बन्धी निदेशक भी बना दिया गया। राज्य पुलिस की सहायता से रेलवे सुरक्षा पुलिस ने चलती गाड़ियों और रेलवे-मालगोदामों से चोरी पर भारी रोक लगा दी। चोरी गए माल के लिए विभागीय मुआवजों की रकम में भी बहुत कमी आ गई।

जनता में रेलवे की त्रुटिपूर्ण कार्यप्रणाली के प्रति बढ़ते हुए असंतोष को दूर करने के लिए उन्होंने रेलवे प्रयोक्ता सलाहकार समितियों का आंचलिक और डिवीजनल आधार पर संगठन किया। केन्द्र में एक राष्ट्रीय रेलवे प्रयोक्ता सलाहकार समिति की स्थापना की। इन समितियों के सुझावों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाता था। इस पद्धति से व्यापारिक जगत् में रेल-यातायात के लिए पुनः विश्वास की भावना में वृद्धि हुई।

रेल विभाग का शायद ही कोई पहलू ऐसा रहा हो, जिसे उनके सुधारवादी व्यक्तित्व का संस्पर्श न मिला हो। उन्होंने एक ऐफीशिएन्सी ब्यूरो की भी स्थापना की जिसका काम पुरानी कार्यप्रणाली के स्थान पर, जो नवीन परिस्थितियों में नाकारा साबित हो चुकी थी, रेलों को अधिक उपयोगी बनाने के लिए नवीन कार्यप्रणाली का सुझाव देना था। इस अनुसंधान केन्द्र की सेवाएं अत्यन्त उपयोगी साबित हुईं। इससे कार्यप्रणाली को अधिक उपयोगी बनाने, विभिन्न क्षेत्रों और शाखाओं पर काम के परिणाम का निर्धारण करने में भी सुविधा हुई। इस अनुसंधान के परिणामस्वरूप यह पता लगा कि पूर्वी रेलवे पर काम का दबाव अधिक है और जैसे-जैसे औद्योगिक प्रसार होगा, लोहे और कोयले के यातायात के परिमाण में वृद्धि होगी, पूर्वी रेलवे की कार्यक्षमता और कुशलता पर उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। शास्त्रीजी ने पूर्वी रेलवे को दो एकांशों में विभा-

भिन्न कर दिया। पुरानी बंगाल नागपुर शाखा को एक स्वतन्त्र इकाई बनाकर उसे दक्षिण-पूर्वी रेलवे बना दिया।

योजनाओं के अन्तर्गत सार्वदेशिक औद्योगिक विकास को नजर में रखते हुए उन्होंने सेन्ट्रल रेलवे तथा अन्य रेलवे को भी प्रशासनिक सुविधा के लिए क्षेत्रीय प्रशासन इकाइयों में बांट दिया। अब तक केवल उत्तर और पूर्वी रेलवे-प्रशासन में ही क्षेत्रीय प्रशासन-प्रणाली प्रचलित थी। सन् 1955-56 में सेन्ट्रल-रेलवे के सिकन्दराबाद और बम्बई डिवीजनों का उद्घाटन हुआ। अगले वर्ष सेन्ट्रल रेलवे, पश्चिमी रेलवे-विभागों में भी क्षेत्रीय प्रशासन-प्रणाली प्रारम्भ की गई।

रेल-भाड़े के पूरे ढांचे का अध्ययन करके उचित परामर्श देने के लिए उन्होंने रामस्वामी मुदालियर समिति का निर्माण किया। शास्त्रीजी के मन्त्रित्वकाल में चितरंजन कारखाने के उत्पादन में लगभग अस्सी प्रतिशत की वृद्धि हुई। प्रतिवर्ष इस कारखाने में दो सौ इंजिनों का उत्पादन होने लगा।

जी० डी० कोटक की अध्यक्षता में उन्होंने एक और समिति का निर्माण किया जिसका काम रेल-इंजिनों और डिब्बों के लिए कल-पुर्जे और निर्माण में प्रयुक्त होने वाले सामान का उत्पादन करने के उपायों का सुझाव देना था।

शास्त्रीजी की अपनी विशेषता यह थी कि उनके कार्यों में आम लोगों के हितों की उपेक्षा नहीं होती थी। उनके शासनकाल में तीसरे दर्जे के यात्रियों के लिए सुविधाओं में आशातीत वृद्धि हुई। उन्होंने पहले के प्रथम श्रेणी के डिब्बों के स्थान पर द्वितीय श्रेणी के डिब्बों को ही मान्यता दी और उन्हें प्रथम श्रेणी का बना दिया। उनका विचार था कि समूचे रेल-पथों पर केवल दो स्थान बना दिए जाएं—प्रथम और द्वितीय, लेकिन ऐसा नहीं हो सका। तीसरे दर्जे के यात्रियों के लिए सोने के स्थान सुरक्षित करने और यात्रा में खाना मंगा सकने की सुविधा का भी उन्हीं के काल में श्रीगणेश हुआ। दिल्ली से कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के लिए डी-लक्स गाड़ियां भी चलाई गई।

शास्त्रीजी ने काफी अर्से तक इस पद पर काम किया। इनके शासन म

यात्रियों को अधिक सुविधाएं मिलीं, व्यापारिक और औद्योगिक सामान के यातायात में नियमितता उत्पन्न हुई, लेकिन रेलवे कर्मचारी यूनियन को भी उन्होंने सन्तोष दिया। उनकी समन्वय नीति, निष्कपट आचरण के सामने आग उगलने वाले ट्रेड यूनियन नेताओं को शरारत करने का अवसर नहीं मिलता था।

प्रशासनिक जीवन के प्रत्येक प्रकोष्ठ को उन्होंने प्रकाशमान किया। सरकारी मशीन में ऐसी सुविधा होती है कि विभागीय प्रमुख चाहे तो ज़िम्मेदारी दूसरों पर टाल सकता है। शास्त्रीजी ने हमेशा यह समझा कि विभागीय अध्यक्ष की हैसियत से उनके विभाग में घटित होने वाली घटनाओं का उत्तरदायित्व उन्हींके कन्धों पर है। इस वैधानिक उत्तरदायित्व की पूर्ति करने का अवसर तब आया जब कि सन् 1956 के अगस्त मास में महबूबनगर रेल-दुर्घटना हुई। इस दुर्घटना में 112 आदमियों की जान गई थी। शास्त्रीजी ने नेहरूजी से कहा था कि दुर्घटना की ज़िम्मेदारी उनकी है, अतः उन्हें इस्तीफा देने की इजाज़त दी जाए। प्रधानमन्त्री ने उनका इस्तीफा लेने से इन्कार कर दिया। इस दुर्घटना का प्रभाव उनके मन पर धुंधला भी न हो पाया था कि मद्रास में आरियालूर रेल-दुर्घटना हो गई। इस दुर्घटना में 144 लोगों का जीवन गया। शास्त्रीजी विचलित हो उठे। उन्होंने मन्त्रिपद से त्याग-पत्र दे दिया और इस बार उसे वापस नहीं लिया हालांकि सैकड़ों-हज़ारों तार और पत्र नेहरूजी को प्राप्त हुए थे कि शास्त्रीजी का इस्तीफा मंजूर न किया जाए। इस अवसर पर नेहरूजी ने उनके कांग्रेस में एक दलीय कार्यकर्ता के सहयोग-सम्पर्क एवं एक मन्त्री के रूप में उनके साथ काम करने की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। उनकी मैत्री और बन्धुत्व को अपने लिए सौभाग्यपूर्ण और स्पृहणीय बताया था।

यह भी शायद सौभाग्यपूर्ण संयोग ही था कि नेहरूजी को लालबहादुर शास्त्री की सेवाएं संगठन के लिए पुनः प्राप्त हो गईं। सन् 1957 के चुनाव-संग्राम सेनापति शास्त्री इलाहाबाद पश्चिमी निर्वाचन-क्षेत्र से लोक सभा के लिए चुने गए। केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में उन्हें इस बार संचार और परिवहन मन्त्रि-पद पर नियुक्त किया गया। उनके अल्पकालीन शासन में दो महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटित हुईं। विशाखापट्टनम् का शिप बिल्डिंग यार्ड

भी संचार और परिवहन मन्त्रालय में सम्बद्ध कर दिया गया। दूसरी घटना थी इस मन्त्रालय के अन्तर्गत पोस्ट और टेलीग्राफ कर्मचारियों की अभूतपूर्व हड़ताल, लेकिन शास्त्रीजी ने इस कठिन स्थिति से सभी पक्षों को उबार दिया।

शीघ्र ही उन्हें एक नये पद का भार संभालना पड़ा। टी० टी० कृष्णामाचारी के वित्त-मन्त्री पद से त्यागपत्र देने के बाद उन्हें वाणिज्य एवं उद्योग मन्त्री के पद पर नियुक्त किया गया। कार्यकाल का एक वर्ष पूरा हुआ ही था कि वे अक्तूबर 1959 में इलाहाबाद क्षेत्र का दौरा करने गए। वहां उन्हें दिल का दौरा पड़ा। इस रोग के आक्रमण का वर्णन ललितादेवी शास्त्री के शब्दों में इस प्रकार हुआ है—

"मैंने साथियों को डाक्टरों को शीघ्र सूचना देने के लिए लगाया तथा अपनी लड़की को उनके पास ही रहने को कहकर मैं सीधी प्रार्थना-गृह में अपने भगवान से शिकायत करने जा पहुंची।

"मैं चीखी। मैं पागल हूं, हे मेरे भगवान्! मैं पगली हूं। क्या यही तेरी मर्जी है मेरे देवता, कि मुझे और मेरे बच्चों को यह सब देखना पड़े!

"हस्पताल में खाट पर पड़े मेरे पतिदेव के प्राणों की रक्षा में डाक्टरों का समूह निरन्तर संघर्ष कर रहा था, तब मैं अपने भगवान् से बार-बार यही दुहरा रही थी।

"किन्तु मेरी लड़ाई तो उस सर्वोपरि शक्ति से थी और उसने मेरी प्रार्थना सुन ली। मेरे पतिदेव बच गए और अनेकों वर्षों तक जनता-जनार्दन की सेवा के लिए मेरे भगवान् ने उन्हें जीवनदान दिया।"

उन दुःखद दिनों और रातों का स्मरण करते उनकी आंखों से आंसू बह रहे थे।

यह देखने में आता है कि वाणिज्य एवं उद्योग विभाग को संभालने वाले मन्त्री के लिए अपनी लोकप्रियता को बनाए रखना कठिन होता है। इस देश में यह बात और भी मुश्किल होती है। एक तरफ देश का अपना घोषित लक्ष्य यह था कि सार्वजनिक और निजी औद्योगिक क्षेत्र के समानान्तर चलते हुए भी भारत में समाजवाद की स्थापना का पथ प्रशस्त हो

और दूसरी तरफ निजी क्षेत्र में भी उदासीनता की भावना पैदा न हो। निजी क्षेत्र की कार्यक्षमता के आधार पर उद्योगों के प्रसार में सहायता मिलती है, निजी पूंजी बाज़ार में आती है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि निजी क्षेत्र के सुरक्षित और खुशहाल बने रहने से गैर समाजवादी आर्थिक व्यवस्था वाले देश सहकारिता के आधार पर नये धन्धे खोलने के लिए प्रेरित होते हैं। ऐसे औद्योगिक एवं व्यापारिक क्षेत्र जिनका सीमा सम्बन्ध राष्ट्रीय जीवन को अनिवार्य करार दी गई वस्तुओं के उत्पादन से नहीं है, निजी क्षेत्र में ही उन्नति कर सकते हैं। सरकार ने इसी दृष्टि से निजी क्षेत्र को बढ़ावा देने की नीति स्वीकार की है। शास्त्रीजी के कार्यकाल में व्यापारिक समुदाय खुश रहा, हालांकि कम्पनी कानून के बारे में उन्होंने जो निर्णय दिए, वे निजी क्षेत्र की कम्पनियों के लिए अनुकूल नहीं पड़ते थे।

उन्हींके समय में विदेशी मुद्रा का संकट बढ़ा, परन्तु उन्होंने इस संकट को भी संभाला। इन तमाम परिस्थितियों में उन्होंने व्यापारिक समुदाय में अमित्र नहीं बनाए। उनकी सचाई और ईमानदारी कभी भी संदिग्ध नहीं रही। सार्वजनिक क्षेत्र के औद्योगिक प्रसार में उन्होंने ऐसे अनेक काम किए, जिनसे छोटी मशीनों के निर्माण में अभूतपूर्व प्रगति हुई। सोवियत यूनियन एवं चेकोस्लोवाकिया के सहयोग से उन्होंने हैवी इंजीनियरिंग कार्पोरेशन की स्थापना करवाई। इस निगम की स्थापना के बाद ही भारी फौंड्री, फोर्ज, भारी मशीन निर्माता कारखाना और माइनिंग मशीनें तैयार करने का कारखाना तैयार हो सका।

रांची का भारी मशीनों का कारखाना वस्तुतः भारी मशीनों के निर्माण में एक युगान्तरकारी कदम सिद्ध हुआ। उसी कारखाने में बनी मशीनों के आधार पर बोकारो इस्पात कारखानों के कार्य को भारत सरकार ने अपने ही बल पर खड़ा करने का संकल्प किया था।

बंगलौर के हिन्दुस्तान मशीन टूल्स कारखाने का विस्तार हुआ। नांगल उर्वरक कारखाने में उत्पादन बढ़ा। जापान की सहायता से बंगलौर में थोड़ी कीमत की घड़ियां बनकर बाज़ार में आईं। भोपाल में बिजली के

भारी सामान का उत्पादन शुरू हुआ। उनके कार्यकाल में औद्योगिक उत्पादन के सभी लक्ष्य पूरे हुए। अनेक मदों में उत्पादन का परिणाम निर्धारित लक्ष्य से 15 प्रतिशत ऊपर पहुंच गया। निजी औद्योगिक क्षेत्र की उदासीनता भंग हुई। सभी क्षेत्रों में नए उद्योगों की स्थापना के लिए मन्त्रालय ने एक बड़ी संख्या में आवेदन-पत्रों को स्वीकार किया। तकनीकी एवं वित्तीय सहकार के क्षेत्र में आशातीत प्रगति हुई। शास्त्रीजी के कार्यकाल में औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए इलाकों में सार्वजनिक क्षेत्र के सात भारी उद्योगों की परियोजनाएं स्वीकार की गईं। शास्त्रीजी ने देहाती क्षेत्र में कुटीर उद्योगों की स्थापना को बल दिया। उनका ही संकल्प था कि औद्योगिक विकास को कृषि के विकास के साथ जोड़ा जाना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि यदि वे इस मन्त्रालय में रहते तो उनकी योजना के अनुसार 25-30 वर्ष में ग्रामीण क्षेत्रों को कुटीर उद्योगों से गुंजान करने में बड़ी सहायता मिलती। किसानों के बीच राजनीतिक जीवन शुरू करके, उन्होंने सदैव ही यह ध्यान रखा कि उनकी हालत में सुधार किए बिना देश को खुशहाल समझना बेकार होगा। भारी उद्योगों की अपरिहार्यता को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने हमेशा यही माना कि देहातों में कुटीर-उद्योगों की स्थापना से एक नवीन स्फूर्ति का संचार होगा और अन्न-उत्पादन में वृद्धि होगी।

लालबहादुर शास्त्री ने प्रशासनिक एवं राजनीतिक संगठनात्मक गतिविधियों में अपनी सफलताओं से यह साबित कर दिया था कि कांग्रेस में उनके अतिरिक्त दूसरा ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था, जो इन दोनों तत्वों का समाहार कर सके। सम्भवतः यही कारण था कि अप्रैल, 1961 में जब पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त का निधन हुआ, स्वराष्ट्रमन्त्री पद के लिए लालबहादुर शास्त्री को ही चुना गया। यह पद ऐसा था जिसमें राष्ट्रीय जीवन के दिन-प्रतिदिन के संचालन का सीधा सम्बन्ध था। लालबहादुरजी ने इस चुनौती को स्वीकार किया और स्वराष्ट्रमन्त्री पद के समक्ष जितने भी दायित्व थे उनकी पूर्ति का संकल्प धारण कर लिया।

उनके पूर्ववर्ती पंडित पन्त की कार्यपद्धति यह थी कि वे किसी भी समस्या को तब तक टालते रहते थे, जब तक कि परिस्थितियां अ-

कदम उठाने के लिए मजबूर ही न कर दें। असम की भाषा-समस्या किसी भी समय विस्फोटक रूप धारण कर सकती थी, यह 1960 के भाषाई दंगों से स्पष्ट हो चुकी थी। पंजाब में भाषाई सूबे की मांग ज़ोर पकड़ती जा रही थी और शिरोमणि अकाली दल के नेता मास्टर तारासिंह सरकार से जूझने की अंतिम तैयारी कर रहे थे। कश्मीर में शासन के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोप आन्दोलन का रूप धारण करते जा रहे थे। ऐसी परिस्थितियों में शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना करना, राज्यों के अन्दर राजनीतिक विग्रह मिटानेवाले नेताओं को उनके उचित स्थान पर रखना और एक शान्तिपूर्ण वातावरण कायम करना ज़रूरी था। शास्त्रीजी पद-ग्रहण करने के पहले ही दिन से इन समस्याओं का निदान खोजने में जुट गए।

असम में भाषाई दंगे अप्रैल 1960 में शुरू हुए और मई 1961 में उनका विषावत रूप प्रकट हो गया। जुलाई 1960 में 40 हजार बंगालियों को उनके घर से निकाल दिया गया। 32 हज़ार बंगाली पश्चिमी बंगाल में शरण लेने पर बाधित हुए। गांव के गांव जला दिए गए। कांग्रेस दल भाषा के मामले पर बट गया था। राज्य के अन्य राजनीतिक दल भाषाई आवेश में दंगाइयों से मिल गए थे। असम की 87 लाख आबादी में बंगलाभाषी लोगों की संख्या लगभग 18 लाख है, लगभग 10 लाख आदिवासी भी रहते हैं, जिनकी अलग-अलग भाषाएं हैं। राज्य सीमा-पुनर्गठन आयोग ने भाषाई आधार पर पुनर्गठन करते समय यह सिद्धान्त बनाया था कि जिस राज्य में एक भाषा को बोलनेवाले 70 फीसदी या उससे अधिक लोग हों, वहां एक राजकीय भाषा स्वीकार की जानी चाहिए। लेकिन यदि 30 प्रतिशत आबादी दूसरी भाषा बोलने वाली है, तो ऐसे राज्य को द्विभाषी राज्य घोषित किया जाना चाहिए। 1951 की जनगणना से यह पता लगा था कि राज्य के 55 प्रतिशत लोग असमिया बोलते हैं और केवल 19 प्रतिशत लोग बंगलाभाषी हैं, लेकिन बंगालियों का यह आरोप था कि जनगणना के समय ईमानदारी से काम नहीं लिया गया, क्योंकि असम के कम से कम 33 प्रतिशत लोग बंगला बोलते हैं। मई 1961 में कछार जिले में जहां पर बंगाली बहुमत है, दंगे शुरू हुए

जिसमें कि 11 आदमी मारे गए और 70 घायल हुए। पुलिस के सामने इस भाषाई समस्या को शांत करने का कोई उपाय दिखाई नहीं देता था। समस्या इतनी भयंकर हो चुकी थी कि शान्ति एवं व्यवस्था कायम करने के लिए सेना की सहायता लेनी पड़ी थी।

भाषाई वर्गों में परस्पर इतनी कटुता, घृणा और अविश्वास पैदा हो गए थे कि शान्ति कायम रखकर समस्या पर धीरज के साथ विचार करने की अपीलें बेकार साबित हो रही थीं। बंगलाभाषियों के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के लिए पश्चिमी बंगाल में हड़तालें शुरू हो गई थीं और सीमावर्ती इलाकों में दंगे शुरू हो गए थे।

लालबहादुर शास्त्री ने इस समस्या को तत्काल हल करने का फैसला किया। 31 मई, 1961 को वे आसाम गए। उन्होंने दोनों पक्ष के नेताओं से बातचीत की और भाषा-समस्या को हल करने के लिए एक फार्मूला पेश किया।

शास्त्री-फार्मूला इस प्रकार है—

(1) असम के राजभाषा-कानून में संशोधन किया जाए ताकि महकमा-परिषद्-धारा को समाप्त किया जा सके।

(2) कछार तथा स्वायत्तशासी पर्वतीय जिलों और सरकार के मध्य अंग्रेजी में उस समय तक लिखा-पढ़ी की जाए, जब तक अंग्रेजी का स्थान हिन्दी को प्राप्त नहीं हो जाता।

(3) सरकारी स्तर पर अभी अंग्रेजी का प्रयोग जारी रखा जाए और तदुपरान्त अंग्रेजी और असमिया का समानान्तर प्रयोग किया जाए।

(4) भाषाई अल्पसंख्यकों को भारत सरकार के 19 सितम्बर, 1956 के स्मृति-पत्र के अनुसार सुरक्षा प्रदान की जाए।

(5) यह स्पष्ट कर दिया जाए कि संविधान के अनुच्छेद 348 (3) के अनुसार समस्त अधिनियम, विधेयक, अध्यादेश तथा [illegible] इत्यादि सरकारी गजट में अंग्रेजी में ही प्रकाशित होते रहेंगे, [illegible] में भी जहां वे राजभाषा कानून के अन्तर्गत असमिया में प्रकाशित हैं।

(6) जिला स्तर पर विकास-योजनाओं के क्रियान्वयन [illegible] व्यवस्था की जानी चाहिए।

(7) कछार में चलनेवाला आन्दोलन समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

(8) इस आन्दोलन से सम्बन्धित समस्त बन्दियों को मुक्त करने पर सरकार विचार कर सकती है, यदि उसे यह विश्वास हो जाए कि आन्दोलन पुनः नहीं चलाया जाएगा। हिंसा तथा तोड़-फोड़ के काम करने वाले लोग इसके अन्तर्गत नहीं रहेंगे।

इस फार्मूले की श्रेष्ठता का परिचय इसी बात से मिल जाता है कि नेहरूजी ने उसके बारे में कहा था—"श्री लालबहादुर शास्त्री ने जो फार्मूला रखा है, वह बहुत अच्छा है। उसके अनुसार भाषिक अल्पसंख्यकों को अपनी भाषा के प्रयोग की स्वतन्त्रता है। प्रशासन तथा शिक्षा में और राज्य प्रधान कार्यालय के साथ सम्बन्धों में बंगला भाषा के प्रयोग की पूर्ण स्वतन्त्रता है। इससे अधिक की वास्तव में कोई आशा नहीं कर सकता था···यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि लोग भावनात्मक संकोच-ग्रन्थि में बंध गए हैं। यह बात कभी-कभी समस्या के हल में बाधा उत्पन्न करती है। ऐसे वाद-विवाद खड़े होते हैं, जो ठोस तत्त्वों से सम्बन्धित नहीं होते हैं। हमें वास्तविकता को ओझल नहीं करना है।"

सचाई यह है कि वास्तविकता चाहे जिसकी दृष्टि से ओझल रही हो, लेकिन लालबहादुर शास्त्री की दृष्टि से वह कभी ओझल नहीं रही। मास्टर तारासिंह, जो काफी समय से पंजाबी सूबे के निर्माण के लिए सरकार से टक्कर लेने के लिए मचल रहे थे, सन् 1961 के अगस्त मास में पंजाबी सूबे की मांग और पंजाब सरकार के खिलाफ आरोपों की सूची लेकर मैदान में आ गए। सूबे के निर्माण के लिए मोर्चे निकाले गए और प्रदर्शन आरम्भ हो गए। मास्टर तारासिंह का सबसे बड़ा अभियोग यह था कि राष्ट्रीय सेवाओं में सिखों के साथ भेदभाव बरता जाता है। शास्त्रीजी ने इस आरोप की जांच के लिए एक कमीशन की नियुक्ति कर दी, जिसकी जांच के बाद मास्टर तारासिंह के अभियोग बेबुनियादी साबित हो गए। अपने आग्रह को जारी रखकर मास्टर तारासिंह ने 48 दिन की भूख हड़ताल जारी रखी, लेकिन उनकी तरफ किसीकी भी सहानुभूति पूर्ण दृष्टि नहीं गई, उल्टे यह हो गया कि अकाली दल में मास्टर तारा

सिंह के 14 वर्ष से चलते आ रहे नेतृत्व को चुनौती देने वाले संत फतेहसिंह मैदान में आ गए। मास्टर तारासिंह ने यह चुनौती दी थी कि यदि पंजाबी सूबे का निर्माण नहीं होगा तो वे अपने शरीर में आग लगा देंगे। सम्भवतः उनकी यह चुनौती विध्वंसपूर्ण सिद्ध हो सकती थी, लेकिन उन्हें मालूम नहीं था कि स्वराष्ट्रमंत्री पद पर एक ऐसा व्यक्ति बैठा है, जो राजनीति की कला में उनसे भी बड़ा मास्टर है।

स्वराष्ट्रमंत्री की हैसियत से शास्त्रीजी की प्रथम राजनयिक नेपाल-यात्रा इस देश की विदेशी मामलों को सुलझाने की दृष्टि से व्यावहारिक नीति अपनाए जाने का साक्ष्य प्रस्तुत करती है। दिसम्बर 1960 में नेपाल नरेश ने जिस समय मन्त्रि-परिषद् को भंग करके शासन सत्ता को अपने हाथ में ले लिया था, उस समय भारत सरकार की ओर से कुछ ऐसी बातें कही गई थीं, जिनसे न केवल नेपाल-नरेश के मन में भ्रांति उत्पन्न हो गई थी, वरन् नेपाली जनता के मन में भी गलतफहमियां पैदा हो गई थीं। इन गलतफहमियों के पीछे एक लम्बा इतिहास था। सन् 1959 में नेहरूजी ने संसद में यह कहा था कि नेपाल और भूटान पर आक्रमण भारत पर आक्रमण समझा जाएगा और दिसम्बर 1950 में जिस राजा महेन्द्र ने कोइराला सरकार को भंग करके शासन की बागडोर अपने हाथ में संभाल ली थी तब भी नेपाल में भारतीय प्रतिक्रिया को गलत समझा गया था। नेपाल और भारत की सीमा पर उन दिनों और उसके बाद नरेश-विरोधी नेपाली तत्त्वों ने जो कार्रवाइयां की थीं, उन्हें भी भारत की तरफ से चलाई गई कार्रवाई समझा गया। राजा महेन्द्र ने यह घोषित कर दिया था कि उनका देश किसीका पिछलग्गू नहीं बनेगा और अपने कटु अनुभवों के आधार पर उन्होंने दलीय राजनीति का जो परिणाम भोगा है, उसे किसी भी विदेशी शक्ति के कहने पर नहीं बदलेगा। परन्तु, स्थिति यह थी कि नेपाल चीन और पाकिस्तान की ओर आकर्षित होता जा रहा था। नेपाली राजदूत ने कहा था कि नेपाली विद्रोही आधुनिक ढंग के जो शस्त्रास्त्र काम में ला रहे हैं, उससे स्पष्ट है कि भारत सरकार नेपाल पर हमले को बढ़ावा दे रही है। इन उद्‌गारों से प्रेरित होकर मार्शल चेन-यी ने यह कहा था कि यदि नेपाल पर हमला हुआ तो चीन उसकी रक्षा

करेगा। नेपाल की विदेशी नीति पर चीन का प्रभाव दिनोंदिन बढ़ने से भारत सरकार चिंतित हुई, तो उन्होंने लालबहादुर शास्त्री को ही इन गलतफहमियों को दूर करने के लिए नेपाल भेजा। शास्त्रीजी के व्यक्तित्व का जादू यह था कि वे अत्यन्त कटुता से भरे वातावरण में भी अपने सौम्य स्वरूप से विचलित नहीं होते थे। उन्होंने काठमांडू पहुंचने पर कहा था कि भारत से रवाना होते समय मेरे मन में प्रसन्नता हो रही थी कि मैं विदेश जा रहा हूं, किन्तु यहां आकर ऐसा लगा कि जैसे मैं अपने ही देश में हूं।

समस्याओं के निराकरण को प्रस्तुत करने की सामर्थ्य शास्त्रीजी में जिस अनुपात में बढ़ती जा रही थी, संभवतः समस्याओं की गति में भी वही अनुपात पैदा हो गया था। कश्मीर का प्रश्न सन् 1948 से ही भारत सरकार के मस्तिष्क पर एक बोझ बना हुआ है। संभवतः यह श्रेय लालबहादुर शास्त्री को ही प्राप्त होना था कि कश्मीर की नाज़ुक समस्याएं उन्हीं के हाथों सुलझाई जाएं। 26 दिसम्बर, 1963 को श्रीनगर की हजरत बल मस्जिद से पवित्र बाल चोरी हो गया। यह पवित्र बाल मुस्लिम पैगम्बर मुहम्मद साहब का है, जिसे शाहजहां के शासनकाल में एक फकीर बुखारा से लाया था, जिसे बादशाह शाहजहां ने एक सुन्दर मस्जिद झील के किनारे बनवाकर स्थापित किया था। बाल के बारे में एक दूसरा मत यह भी है कि सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में वह बीजापुर से लाया गया था और शाहजहां उसे हज़रत बल की दरगाह में लाया था। यह बाल लगभग 3 इन्च लम्बा और काला है तथा साढ़े तीन इन्च गोल कांच की नली में रखा हुआ है। नली के दोनों ओर से चांदी का ढक्कन लगा हुआ है।

पवित्र बाल का चोरी होना जैसे कश्मीर में साम्प्रादायिक ज्वालामुखी फूट पड़ना था। राजनीतिक आन्दोलन शुरू किया गया, जिसका उद्देश्य यह था कि बख्शी गुलाम मुहम्मद द्वारा नामांकित शमसुद्दीन मंत्रिमंडल को समाप्त किया जाए, शेख अब्दुला की रिहाई के लिए आन्दोलन चलाया जाए और जनमत संग्रह की मांग को हकीकत बनाया जाए। इस आन्दोलन में वे सभी लोग एक मोर्चे पर आ गए जो बख्शी गुलाम मुहम्मद के

खिलाफ थे, शेख अब्दुल्ला और पाकिस्तान के समर्थक थे।

इस आन्दोलन से नेहरूजी के मस्तिष्क में भी बेचैनी पैदा हो गई। उन्होंने लालबहादुर शास्त्री के कन्धों पर यह भार सौंपा कि वे समस्या का कोई भी *समाधान खोजें; नेहरूजी का समर्थन उन्हें प्राप्त होगा*। इन दिनों शास्त्रीजी बिना विभाग के मंत्री थे। नेहरूजी के व्यक्तिगत प्रतिनिधि की हैसियत से ही वे जनवरी को श्रीनगर गए थे।

पवित्र बाल तो मिल गया, लेकिन अब यह प्रश्न था कि उसका दीदार करके उसकी पहचान कराई जाए अथवा नहीं। यह संकल्प श्री लालबहादुर शास्त्री का ही था कि उन्होंने इस महान संकट को अपने सिर पर ओढ़ लिया। आशंका यह व्यक्त की जा रही थी कि यदि, जिन पीरों को पवित्र बाल का दीदार करने के लिए नियुक्त किया जाएगा, उन्होंने यह कह दिया कि वह मूल पवित्र अवशेष नहीं है तो क्या होगा ? बड़े से बड़े संकट को अनायास चुनौती के रूप में स्वीकार करने का अभ्यास शास्त्रीजी को था। यह तय किया गया कि कश्मीर के पन्द्रह मुस्लिम पीर दीदार करेंगे। कुरान की आयतों की प्रतिध्वनि के मध्य पवित्र बाल का दीदार हुआ। यह प्रमाणित हो गया कि यह वही पवित्र बाल है। दीदार के समय फकीर मिरकशाह मौजूद थे और संघर्ष समिति के नेता मौलाना मसूदी भी मौजूद थे।

एक बार पवित्र बाल की प्रामाणिकता साबित होने पर कश्मीर की सड़कों पर लोग उछल-कूदकर नाचने-गाने लगे। इस्लाम जिन्दाबाद के नारे बुलन्द हुए। तीन सौ वर्षों से रखे गए पवित्र बाल की खोज पर इतना हर्षोन्माद हुआ कि महिलाओं ने अपने बुर्के उतार फेंके और पुरुषों ने अपनी टोपियां और पगड़ियां उछाल दीं। हिन्दुओं की ओर से शखनाद किया गया। हज़ारों व्यक्ति डल झील के पास कृतज्ञता ज्ञापन के लिए प्रार्थना करने लगे। श्रीनगर में सदरे-रियासत ने ग्यारह हिंदू, मुस्लिम और सिख पूजास्थलों पर प्रार्थनाएं करने का आदेश जारी किया।

पवित्र बाल की चोरी एक भयानक षड्यन्त्र था। स्वयं नेहरूजी ने उसकी प्रतिक्रियाओं की कल्पना करते हुए यह कहा था कि जिस व्यक्ति ने यह कार्य किया है, वह भारत का और कश्मीर का मित्र नहीं हो सकता"

बाद में उन्होंने कश्मीर सरकार को पवित्र बाल की प्राप्ति पर बधाई दी और कश्मीर की जनता के लिए उसे सौभाग्य का सूचक बताया। यह घटना कश्मीर के जीवन में इतनी महत्वपूर्ण थी कि यदि उसे सावधानी के साथ संभाला न गया होता तो स्थिति बिगड़ सकती थी। लालबहादुर शास्त्री ने पाकिस्तान के समस्त षड्यन्त्रों को परास्त कर दिया। हिन्दू-मुसलमानों के मध्य फिर से भाईचारे की भावना पैदा हो गई। सम्भवतः इस सद्भावना का ही सहारा था कि लालबहादुर शास्त्री ने कश्मीर की राजनीति में ऐतिहासिक महत्त्व रखने वाले अनेक निर्णय किए जिनमें उन्हें सफलता प्राप्त हुई।

कश्मीर में समस्याएं अनेक हैं। शेख अब्दुल्ला की गिरफ्तारी के बाद से बख्शी गुलाम मुहम्मद ने कश्मीर पर एकच्छत्र राज्य स्थापित किया था। उनके खिलाफ कुनबापरस्ती और भ्रष्टाचार के आरोप होते हुए भी राजधानी में अनेक लोगों का यह विचार था कि बख्शी साहब शासन से अलग रहकर भी यदि कश्मीर सरकार से निकट रिश्ता बनाए रखेंगे तो स्थिति काबू में रहेगी। बख्शी गुलाम मुहम्मद के बाद शमसुद्दीन कश्मीर के मुख्यमन्त्री बनाए जरूर गए थे लेकिन जनता को इससे सन्तोष नहीं था, क्योंकि सरकार के पीछे अभी तक बख्शी गुलाम मुहम्मद की सत्ता मौजूद थी। लालबहादुर शास्त्री ने बख्शी दल की लोकप्रियता का भली भांति अध्ययन कर लिया था। उन्होंने यह निश्चय किया कि जब तक इस दल के प्रमुख को समाप्त नहीं किया जाएगा, तब तक कश्मीर के शासन पर भरोसा नहीं किया जा सकता। शास्त्रीजी ने इन दोनों नेताओं से बातचीत करके उन्हें इस बात पर राजी कर लिया कि शमसुद्दीन इस्तीफा दे देंगे। 27 फरवरी को शमसुद्दीन ने नेशनल कांफ्रेंस के विधायकों की सभा बुलाई और उसमें अपना त्यागपत्र प्रस्तुत कर दिया। यह आश्चर्य ही माना जाएगा कि अगले दिन गुलाम मुहम्मद सादिक को पार्टी का नेता चुना गया और उनके नाम का प्रस्ताव बख्शी गुलाम मुहम्मद ने ही किया।

प्रशासनिक व्यवस्था कायम करने के बाद शास्त्रीजी ने यह निश्चय किया कि कश्मीर की स्थिति को तब तक विश्वसनीय नहीं माना जा

सकता जब तक शेख अब्दुल्ला को रिहा नहीं कर दिया जाता। यह प्रश्न नेहरूजी के मस्तिष्क में भी बहुत दिन से बेचैनी पैदा कर रहा था। शास्त्रीजी ने संसद के समक्ष अत्यन्त आत्मविश्वास के साथ यह कहा कि अब ऐसी स्थिति आ गई है कि शेख अब्दुल्ला के बारे में कोई अन्तिम निर्णय करना पड़ेगा। यदि किसी एक आदमी को हमेशा के लिए कारावास में बन्द करके कश्मीर को अपने हक में रखना है, तो वे इस स्थिति को पसन्द नहीं करेंगे। साफ शब्दों में उन्होंने कहा कि ऐसा कश्मीर नहीं चाहिए जिसके पीछे किसी व्यक्ति को भी यातना दी गई हो। हमारी निष्ठा की यह कसौटी है कि शेख अब्दुल्ला को रिहा किया जाए और फिर भी कश्मीर को अपने हक में रखा जाए।

कश्मीर के मुख्यमन्त्री गुलाम मुहम्मद सादिक शेख की रिहाई के पक्ष में नहीं थे, लेकिन शास्त्रीजी के परामर्श से 8 अप्रैल को उन्हें रिहा कर दिया गया। इस रिहाई पर नेहरूजी की भी प्रतिक्रिया यह थी कि यह एक जान-बूझकर ओढ़ा गया खतरा है। संसद में इस रिहाई के खिलाफ विरोधी दलों ने तूफान खड़ा कर दिया। शास्त्रीजी अब भी अविचलित थे। हालांकि स्वयं उन्हें और नेहरूजी के मन में यह आशंका नहीं थी कि रिहाई के तत्काल बाद शेख अब्दुल्ला कश्मीर को एक स्वतन्त्र राज्य बनाने के लिए इतने ऊंचे स्तर पर इतनी ऊंचाई के साथ अपने स्वर बुलन्द करेंगे।

शेख अब्दुल्ला के तौर-तरीके देखते हुए भी शेख अब्दुल्ला को हज जाने की इजाजत दी गई। उनके इस प्रस्ताव को स्वीकार किया गया कि वे पाकिस्तान जाकर भारत और पाकिस्तान के समक्ष ऐसे प्रस्ताव रखेंगे कि दोनों देश एक-दूसरे के निकट आएं और कश्मीर का मसला हमेशा के लिए निर्णीत हो जाए। लालबहादुर शास्त्री को अपने दृष्टिकोण पर इतना विश्वास था कि शेख अब्दुल्ला लंदन भी गए और उन्होंने स्वतन्त्र कश्मीर की वकालत की, शास्त्रीजी के चेहरे पर शिकन नहीं आई। शेख साहब जिस समय अल्जीयर्स में चाऊ-एन लाई से मिले और ऐसी खबरें आईं कि उन्होंने चीन जाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है, तो शास्त्रीजी ने कठोरतापूर्वक कहा था कि "यदि शेख चीन जाते हैं, तो सरकार इसे देश

के विरुद्ध विद्रोह की कार्रवाई समझेगी।"

शेख अब्दुल्ला चीन नहीं गए। उन्हें दुनिया के सामने खुला छोड़ दिया गया कि वे अपने पक्ष को पूरी आज़ादी के साथ दुनिया के सामने रख सकें। शेख को जो कहना था उन्होंने कहा। भारत अब भी अक्षुण्ण है। कश्मीर की स्थिति ज्यों की त्यों है, वरन् वह पहले की अपेक्षा भारत का अधिक अविच्छिन्न अंग है।

उनके व्यक्तित्व का दूसरा पहलू भी था। विरोधी दलों ने प्रतापसिंह कैरों के खिलाफ कई आरोपों का अभियोग-पत्र प्रस्तुत किया था। इन आरोपों की जांच के लिए दास आयोग की नियुक्ति हुई। इन आरोपों में से दो आरोपों को दास-आयोग ने सही माना था। जून सन् 1964 में प्रतापसिंह कैरों ने 8 वर्ष तक पंजाब पर एकच्छत्र राज्य करने के बाद त्यागपत्र दे दिया। लालबहादुर शास्त्री तब तक प्रधानमंत्री पद पर आसीन हो चुके थे। प्रतापसिंह कैरों के स्थान पर किसी दूसरे व्यक्ति का मुख्य-मंत्री पद के लिए चुना जाना एक अनपेक्षित बात मानी जाती थी। इस कार्य की व्यक्तिगत ज़िम्मेदारी शास्त्रीजी के कन्धों पर आती थी, लेकिन उन्होंने इस संकट को सामान्य रूप से दैनिक राजनीतिक काम-काज की तरह समाप्त कर दिया।

केरल में एक और समस्या थी, जिसको हल करना आसान नहीं था। केरल के कम्युनिस्ट मन्त्रिमण्डल के पतन के बाद कांग्रेस और प्रजा-समाजवादी दल की मिली-जुली सरकार का निर्माण हुआ। प्रजासमाज-वादी नेता पट्टम थाणु पिल्लै मुख्यमन्त्री पद पर नियुक्त किए गए। कांग्रेस के उपमुख्यमन्त्री आर० शंकर के लिए इस संयुक्त मन्त्रिमण्डल में काम करना मुश्किल हो गया। उनकी मांग थी कि मुख्यमन्त्री मन्त्रि मण्डल के परामर्श से ही महत्त्वपूर्ण मामलों पर नीति का निश्चय करें पट्टम थाणु पिल्लै अपने वैधानिक अधिकार देने के लिए तैयार नहीं थे आपसी संघर्ष से विरोधी दलों के लिए शासन को बदनाम करना सरल हो गया। मन्त्रियों के खिलाफ भ्रष्टाचार के आरोप सामने आने लगे राज्य में फिर से तूफानी वातावरण पैदा हो गया। लालबहादुर शास्त्री ने अपनी इस समस्या को भी हल कर लिया। पट्टम थाणु पिल्लै को

का गवर्नर नियुक्त करके उन्होंने आर० शंकर को मुख्यमन्त्री बना दिया।

शासन की कला में वे जितने सहज भाव से निश्चय करते, उतने ही सहज भाव से जन-जीवन से सम्बन्ध रखने वाले विषयों को सभी वर्गों से स्वीकार करा लेने में भी उन्हें सफलता मिल जाती थी।

क्षेत्रीय एवं प्रादेशिक अलगाव की भावनाएँ इस देश के राष्ट्रीय जीवन में अनेक बार पृथक्तावादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा दे चुकी थीं। दक्षिण में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम के नेता श्री अन्नादुराई ने हिन्दी के प्रश्न को लेकर यह आंदोलन खड़ा कर दिया था कि यदि हिन्दी दक्षिण पर लादी गई तो वे भारतीय संघ से अपने को पृथक् कर लेंगे। स्वराष्ट्रमन्त्री की हैसियत से लालबहादुर शास्त्री ने इन भयंकर खतरों पर काबू पाने के लिए यथासंभव पेशबन्दी की। सन् 1963 के मई मास में विधिमन्त्री अशोक सेन ने संविधान की उन्नीसवीं धारा में संशोधन प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार *भारतीय संघ से पृथक् होने का प्रचार करनेवाली गतिविधियों को राजद्रोह* करार दिया गया। अन्नादुराई का मुंह बन्द करने के लिए स्वराष्ट्रमन्त्री ने सन् 1963 में ही संसद के समक्ष राजभाषा विधेयक प्रस्तुत किया, जिसमें यह प्रावधान रखा गया कि 26 जनवरी, सन् 1965 के बाद भी हिन्दी के साथ अंग्रेजी का प्रयोग बराबर होता रहेगा। इस विधेयक के प्रस्तुत करने का एक प्रमुख कारण यह था कि जैसे-जैसे सन् 1965 का जनवरी मास निकट आता जा रहा था, दक्षिण में भाषा सम्बन्धी आन्दोलन एक राजनीतिक अभियान का रूप ग्रहण कर रहा था और मद्रास की कांग्रेस सरकार के सामने कठिनाइयां उपस्थित हो रही थीं। नेहरूजी ने दक्षिणवालों को यह आश्वासन दिया था कि जब तक सारा देश हिन्दी के माध्यम से कामकाज चलाने में समर्थ नहीं हो जाएगा तब तक अंग्रेजी कायम रखी जाएगी। हिन्दीभाषी प्रदेशों द्वारा इस विधेयक का जबर्दस्त विरोध किया गया था। इस समस्या को लेकर कांग्रेस में ही विरोध भाव उत्पन्न हो गए थे। लेकिन, दूरदर्शी लालबहादुर शास्त्री यह अनुभव करते थे कि यदि अनिच्छुक लोगों के सिर पर हिन्दी को लादा जाएगा तो इससे न केवल देश के कामकाज में बाधा उपस्थित होगी, परन्तु राजनीतिक अराजकता भी उत्पन्न हो सकती है। अपनी मान्यता को उन्होंने

1962 में तिरुपति में आयोजित पांचवें अखिल भारतीय युवक सम्मेलन में स्पष्ट कर दिया था कि "जब तक हिन्दी का समुचित विकास नहीं हो जाता, देश के सभी लोग उसका अच्छी तरह अध्ययन नहीं कर लेते, अंग्रेजी भाषा को हटाया नहीं जा सकता। अंग्रेजी ही एक ऐसी भाषा है, जो सभी राज्यों में बोली जाती है।"

भाषा-सम्बन्धी उदारता की नीति पर अमल करने के बावजूद शास्त्री जी को अपने प्रधानमन्त्री-काल में मद्रास राज्य की ओर से उठाई गई एक जबरदस्त चुनौती का मुकाबला करना पड़ा। 26 जनवरी, 1965 को भाषा-सम्बन्धी जो राष्ट्रीय निर्णय किया गया, उसका आशय केवल यह था कि हिन्दी को पहला दर्जा दे दिया जाए और अंग्रेजी को दूसरा, लेकिन द्रविड़ मुनेत्र कड़गम की ओर से यह आन्दोलन खड़ा किया गया कि दक्षिणवालों का काम तब तक नहीं चलेगा जब तक कि हिन्दी के प्रश्न पर संविधान में संशोधन नहीं हो जाता। इस मांग को पूरा करने के लिए मद्रास राज्य में जो हिंसात्मक कार्रवाइयां हुईं, उन्हें लोमहर्षी ही पुकारा जा सकता है। तमिलनाड का यह आंदोलन विद्यार्थी-आंदोलन के रूप में प्रारम्भ हुआ था। लेकिन, उसके पीछे प्रादेशिक भाषी और पृथकतावादी तत्वों का बोलबाला था। इन हिंसात्मक कार्रवाइयों से द्रवित होकर आचार्य विनोबा भावे ने अनिश्चित काल तक अनशन करने की घोषणा करके सारे देश का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया कि राजभाषा अधिनियम में संशोधन की मांग शरारत से भरी हुई है।

मद्रास के वयोवृद्ध नेता चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने संविधान के सत्रहवें अनुच्छेद को समाप्त करने का परामर्श दिया था। कांग्रेस के नेताओं में भी भाषा के प्रश्न को लेकर जबर्दस्त संघर्ष खड़ा हो गया था। केन्द्रीय मन्त्री सुब्रह्मण्यम और अलगेशन ने त्यागपत्र दे दिया और कांग्रेस-अध्यक्ष कामराज नाडार ने केरल में यह कहा कि केन्द्र से हिन्दी में जो भी पत्र आए उसे बिना पढ़े रद्दी की टोकरी में फेंक देने में कोई अपराध नहीं है। लालबहादुर शास्त्री के प्रधानमन्त्री-काल में भाषा के प्रश्न को यह एक ऐसी चुनौती थी जिसका कड़ाई के साथ मुकाबला न किया जाता, तो केन्द्रीय मन्त्रिमंडल त्यागपत्र देने पर मजबूर हो सकता था। शास्त्रीजी ने

मुख्य मन्त्रियों की बैठक बुलाकर इस प्रश्न पर अन्तिम रूप से विचार किया। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के निर्णय में परिवर्तन करना असम्भव है। फिर भी उन्होंने यह व्यवस्था की कि केन्द्र में द्विभाषा फार्मूले को लम्बी अवधि तक जारी रखा जाए और यह निर्णय किया कि केन्द्रीय जनसेवा आयोग की परीक्षाओं के लिए संविधान के आठवें परिच्छेद में उल्लिखित सभी क्षेत्रीय भाषाओं को लागू किया जाए। एक समय यह सुझाव भी प्रस्तुत किया गया था कि केन्द्रीय जनसेवा आयोग द्वारा सभी राज्यों के लिए भाषिक आधार पर कोटा निर्धारित कर दिया जाए। यह सुझाव अधिक मान्यता प्राप्त नहीं कर सका। लालबहादुर शास्त्री ने यदि समझौते की नीति और राष्ट्रीय संकल्पों को अप्रतिहत रखने के दृढ़ निश्चय का परिचय न दिया होता तो सन् 1965 के फरवरी मास में कांग्रेस का सिंहासन डोल सकता था। उन्होंने सुब्रह्मण्यम और अलगेशन के त्यागपत्रों को स्वीकार नहीं किया। हालांकि देश के कोने-कोने में यह कहा जा रहा था कि मन्त्रियों ने न केवल प्रादेशिक पृथकतावादी विचारों का परिचय दिया है, वरन् शास्त्रीजी के साथ विश्वासघात भी किया है, क्योंकि ऐसे संकटपूर्ण क्षणों में ऐसा काम देशद्रोह माना जा सकता था। शास्त्रीजी यह समझते थे कि भाषा के प्रश्न पर परखे हुए देशभक्त दाक्षिणात्य नेता उत्तेजित हो चुके हैं। इस वातावरण को समाप्त करने के लिए सहिष्णुता का परिचय देना होगा। उन्होंने यह परिचय दिया और दक्षिणी नेताओं की आग्नेयता को सहज ही ठंडा कर दिया।

प्रधानमन्त्री पद पर

यह अनुमान लगाना बेहद दिलचस्प होगा कि जबकि सारी दुनिया को यह विश्वास था कि 'नेहरू के बाद कौन' प्रश्न का उत्तर अब भी खोजा जाएगा, लालबहादुर शास्त्री के अतिरिक्त किसी दूसरे को यह स्थान/ — मिलेगा, क्या शास्त्रीजी को भी यह विश्वास था कि यह स्थान उन

घटनाओं के क्रम ने यह साबित किया कि लालबहादुर शास्त्री इस स्वाभाविक प्रक्रिया से अवगत नहीं थे, उनको अपने अनुकूल मोड़ने का उन्होंने कभी प्रयास नहीं किया। सम्भवतः यह अनासक्ति योग ही उन्हें इस पद पर बैठाने में असाधारण सहायक बना।

अगस्त 1962 में 'कामराज योजना' आई। इस योजना के सूत्रधार कामराज थे, किन्तु कुछ महीने पूर्व सर्वप्रथम मुख्यमन्त्रियों के एक सम्मेलन में उसकी रूपरेखा बनी थी। योजना का मूल उद्देश्य यह था कि केन्द्र और राज्यों में काफी समय से महत्त्वपूर्ण पदों पर कार्य करने वाले व्यक्ति अपने पद छोड़कर कांग्रेस संस्था के कार्य को संभालें। कामराज की स्थापना यह थी कि कांग्रेस के महत्त्वपूर्ण और योग्य नेताओं द्वारा प्रशासनिक दायित्वों की पूर्ति करने के कारण संस्था के संचालन का कार्य दूसरे दर्जे के नेताओं को करना पड़ता है। ये नेता जनता में पूरी तरह सरकारी योजनाओं के प्रति विश्वास पैदा नहीं कर पाते। अतः जनता का सहयोग भी सरकार को नहीं मिल पाता।

पर्दे के पीछे इस योजना के पीछे कहीं यह भाव भी था कि केन्द्र और राज्यों में कुछ मंत्रिगण ऐसे हैं, जिन्होंने सत्ता को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मान लिया है। उसे कायम रखने के लिए वे कांग्रेस में षड्यन्त्री गुटों का निर्माण करते हैं। यदि ये नेता संस्था में लौट आएंगे तो उनके सामने कांग्रेस का संदेश, उसकी विचारधारा और नीतियों को जनता तक पहुंचाने के अतिरिक्त कोई काम नहीं रह जाएगा। हालांकि कालान्तर में यह योजना अपने लक्ष्य से भटक गई। कुछ आलोचकों का यह मत रहा कि इस योजना के पीछे केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल से मोरारजी देसाई और जगजीवनराम को निकाल देने का षड्यन्त्र था। उसका दोष जवाहरलाल नेहरू के सिर पर डालना उचित नहीं होगा, क्योंकि वे स्वयं यह सोचते रहे कि वे प्रधानमन्त्री पद को छोड़कर पुनः काम करें। कांग्रेस उन्हें इतनी प्यारी थी कि यदि कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के मन्त्रिमण्डल छोड़ने से कांग्रेस का रुतबा बढ़ सकता था तो इससे अधिक प्रियकर सुझाव उनके लिए क्या हो सकता था। सुझाव कामराज की ओर से आया था जिनके मुख्य मन्त्री पद को चुनौती देने वाला मद्रास में कोई नहीं था। नेहरूजी यह कल्पना

भी नहीं कर सकते थे कि प्रशासन तंत्र को परिष्कृत करने में आने से किसी का दबाव कम होता है। उन्होंने कांग्रेस के अध्यक्ष या प्रधानमंत्री के पद से कभी भी मोह नहीं रखा। उनके स्वास्थ्य ने भी उन्हें मजबूर किया हो कि वे यह न देख सके कि जिस कामराज योजना को उन्होंने उत्साह के साथ अपना आशीर्वाद दिया, वह व्यर्थ हो गई।

कामराज योजना के अन्तर्गत पदत्याग करने वाले मंत्रियों की प्रारंभिक सूची में लालबहादुर शास्त्री का नाम नहीं था, लेकिन उन्होंने नेहरू जी से आग्रह किया कि वे उन्हें भी पदत्याग करने की इजाजत दें। नेहरू जी को उनका आग्रह स्वीकार करना पड़ा। यह बात मुश्किल से समझ में आती है कि कामराज योजना के अन्तर्गत मंत्रिपद छोड़कर आने वाले नेताओं ने जब यह समझा कि यह उनके राजनीतिक जीवन को समाप्त करने का षड्यन्त्र है, लालबहादुर शास्त्री ने स्वेच्छापूर्वक पदत्याग किया। लालबहादुर शास्त्री की सार्वजनिक प्रतिष्ठा में इससे वृद्धि हुई जबकि अन्य बड़े नेताओं ने अनुशासनहीन वक्तव्य देकर कांग्रेस को दुर्बल बनाने के स्थान पर ऐसा आचरण किया कि देश से उन्हें विस्मृत ही कर देगा।

परिणाम यह हुआ कि भुवनेश्वर में कांग्रेस के 68वें अधिवेशन तक यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो गई कि लालबहादुर शास्त्री को ही देश के शासन का भार संभालना पड़ेगा। भुवनेश्वर अधिवेशन की तारीखें 7 जनवरी से 10 जनवरी तक थीं, लेकिन 6 जनवरी को नेहरू जी भीतरगढ़ा से हेलिकॉप्टर से भुवनेश्वर नगर पहुंचे तो उन्हें विमान से उतरने में भी सहारे की जरूरत पड़ी। उनका चेहरा मुरझाया हुआ और पीला था। अधिवेशन के समय भी वे अस्वस्थ दिख रहे थे। उन्होंने स्टीयरिंग समिति की बैठक में पाँच तक हिस्सा लिया, लेकिन 7 जनवरी के आसपास उन्हें पक्षाघात का आक्रमण हो गया। भुवनेश्वर नगर में पहुंचे कांग्रेस नेताओं के सामने पहली बार यह हकीकत सामने आई कि नेहरू जी जैसा विलक्षण एक अद्भुत व्यक्ति भी दैहिक सीमाओं से परे नहीं है और एक दिन ऐसा आ सकता है कि कांग्रेस को उनकी छाया से हीन हो जाना पड़ सकता है। इस महामानव का स्थान कौन ग्रहण करेगा?

भुवनेश्वर नगर में ही यह प्रश्न वास्तविक रूप से देश के।

कर आया और वहीं उसका उत्तर भी मिल गया। विपय समिति के समक्ष लालवहादुर शास्त्री ने कांग्रेस अध्यक्ष के आदेश पर नेहरूजी के स्वास्थ्य-सम्बन्धी विज्ञप्ति पढ़कर सुनाई थी। यह अधिकार लालवहादुर को ही दिया गया कि वे नेहरूजी और कांग्रेस के मध्य अन्तरंग संदेशवाहक का कार्य करें; 'जनतन्त्र और समाजवाद' संवंधी भुवनेश्वर प्रस्ताव को पेश करने का कार्य भी। लालवहादुर शास्त्री कांग्रेस के समाजवादी विचारों और नीतियों के प्रवक्ता और उद्घोपक वनने की सामर्थ्य से सम्पन्न नहीं थे; लेकिन लालवहादुर शास्त्री ने कहा—"केवल जनतान्त्रिक समाजवाद ही वह मार्ग है, जिसपर चलकर देश प्रगति और समृद्धि प्राप्त कर सकता है और व्यक्ति की स्वतन्त्र वैयक्तिकता भी वरकरार रह सकती है।"

उनकी व्याख्या साधिकार, आत्मविश्वास और आस्था से युक्त था। नपे-तुले, सार्थक वाक्यों में उन्होंने अपनी इस प्रतिभा की छाप दर्शकों पर स्थापित कर दी कि वे अत्यन्त गम्भीर सैद्धांतिक विवेचन और मीमांसा करने में ही समर्थ नहीं हैं, वरन् इन सिद्धान्तों को जन-जीवन के साथ व्यावहारिक संगति भी दे सकते हैं। यह ऐसा अवसर था, जवकि उनकी सामान्य भूल उनके लिए महंगी पड़ सकती थी। यदि वे ऐसे व्यक्तित्व का परिचय देने में असमर्थ होते, जो कांग्रेस की उच्च सैद्धांतिक व्यक्तित्व की गरिमा की रक्षा कर सकता है तो गोपवन्धु नगर में ही उनके भविष्य का निर्णय हो जाता।

राजधानी लौटने के उपरान्त भी कांग्रेस नेता द्वारा अनुमान लगाए जा रहे थे कि नेहरूजी अपने कार्यों में किसका सहयोग लेंगे। 22 जनवरी को लालवहादुर शास्त्री की नियुक्ति निर्विभागीय मंत्री के पद पर हुई। उनका काम था कि वे विदेश मंत्रालय, अणु शक्ति विभाग और मंत्रि-मण्डलीय सचिवालय से प्रधानमंत्री के पास आने वाले कागजात को संभालेंगे। आवश्यक होने पर वे प्रधानमंत्री के आदेश प्राप्त करेंगे।

लालवहादुर शास्त्री ने 9 जून, सन् 1964 को प्रधानमंत्री पद ग्रहण किया तो जनता के मन में यह भावना जागी थी कि वे अपने कार्य में

सफल हों तो देश का सौभाग्य होगा। लोगों को यह उम्मीद नहीं थी कि वे अपना भाग्य एक ऐसे व्यक्ति के हाथों में सौंप रहे हैं, जो इस देश के सौभाग्य-सूर्य पर छाई विपदाओं के बादलों को अपने नन्हे हाथों से विदीर्ण करके रख देगा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जहां वर्षों के तपे हुए और घुटे हुए घाघ अपने-अपने राष्ट्रों की बागडोर संभाले हुए हैं, वहां यह भारत का पांच फुटा प्रधानमंत्री इस देश की महत्ता के अनुरूप आचरण कर सकेगा! यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि सिनेमाघरों में उनके चित्रों को देखकर लोग अट्टहास कर उठते थे और आधुनिकता में रंगे भारतीय अपने धोती वाले प्रधानमंत्री के लिए बड़ी सहानुभूतिपूर्वक यह कहते सुने जाते थे, "बेचारे शास्त्री, लोग उन्हें देखकर हंसते क्यों हैं?"

लोग हंसते इसलिए थे कि उनके मन में यह आस्था नहीं थी कि शास्त्री जी का लघु आकार देश की दैत्याकार समस्याओं के मुकाबले में टिक सकेगा। लेकिन लालबहादुर ने अपने संकल्पी स्वभाव के अनुसार प्रकट या दबे स्वरों में आने वाले अविश्वासमूचक उपहास की कोई परवाह न करके शासन की बागडोर संभाल ली। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उन्होंने अपने 18 महीने के शासनकाल में एक महान सीमाचिह्न स्थापित किया जिसमें आगे कदम रखना आने वाले प्रधानमन्त्रियों के लिए आसान नहीं होगा।

उनके कार्यों की गति और सघनता इस तरह बढ़ रही थी कि देश का बौद्धिक वर्ग उन्हें धीरे-धीरे चलने की सलाह देने लगा। सन् 1964 के अक्तूबर मास में शास्त्रीजी युगोस्लाविया-यात्रा पर गए। मार्शल टीटो से भेंट करके उन्होंने भारत और युगोस्लाविया की पारस्परिक मैत्री को मज़बूत किया और दुनिया को फिर से यह विश्वास दिलाया कि नेहरू के बाद तटस्थ राष्ट्रों का संगठन कमज़ोर नहीं होगा। 4 अक्तूबर को वे मार्शल टीटो से मिलकर 6 अक्तूबर को काहिरा पहुंचे और संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति नासिर के साथ वार्ता प्रारम्भ कर दी। 8 अक्तूबर को उन्होंने तटस्थ राष्ट्रों के सम्मेलन में भाषण किया और विश्वशान्ति के लिए 5 सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया। 12 अक्तूबर को कराची में उन्होंने पाकिस्तान के राष्ट्रपति मुहम्मद अय्यूब से वार्ता की। 1965 के फरवरी मास में उन्होंने बर्मा की क्रान्तिकारी परिषद के अध्यक्ष जनरल ने-विन

स्वागत किया और इसी मास अफगानिस्तान के प्रधानमन्त्री से भी नई दिल्ली में बातचीत की। 1965 के अप्रैल मास में उन्होंने नेपाल की सद्भावना-यात्रा की। 12 मई को रूस की 8 दिवसीय सद्भावना-यात्रा पर मास्को पहुंच गए। 10 जून को कनाडा की यात्रा पर शास्त्रीजी ओटावा पहुंच गए। 17 जून को राष्ट्रमण्डल सम्मेलन में लंदन पहुंच गए। 27 जून को उन्होंने काहिरा में राष्ट्रपति नासिर से पुनः भेंट की। जुलाई मास में शास्त्रीजी ब्रियानी में मार्शल टीटो से मिले। राष्ट्रीय गतिविधियों के संचालन के साथ इतना व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क स्थापित करके उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि विदेशों में भारत के मित्रों का अभाव नहीं है। यदि कोई उदासीनता है तो उसे दूर करने के लिए शास्त्रीजी की देह में जो फौलादी तत्व हैं, उनके सहारे वे उस उदासीनता को दूर कर सकेंगे।

इन अन्तर्राष्ट्रीय यात्राओं के वक्त में कोई भी समय ऐसा नहीं था जबकि देश की सीमा पर पाकिस्तान और चीन की ओर से भयंकर चुनौतियां न दी जा रही हों। सन् 1965 के जनवरी मास से ही पाकिस्तान ने कच्छ में अपने आक्रामक इरादों को पूरा करने के लिए तैयारियां शुरू कर दी थीं। 9 अप्रैल को पाकिस्तान ने भारत की सरदार चौकी पर आक्रमण कर दिया। उसने वार्ता चलाने का ढोंग करते हुए भी आम लामबन्दी के आदेश जारी कर दिए थे। सैनिकों की छुट्टियां रद्द कर दी थीं, छुट्टी पर गए सैनिकों को वापस बुला लिया था। स्थल, नौसेना एवं वायुसेना को पूरी तरह सतर्क कर दिया था। सिंध, पंजाब और अधिकृत कश्मीर में मुजाहिदों और रजाकारों को सैनिक-शिक्षा दी जा रही थी। लाठीटिला और डूगाबाड़ी सीमा पर और राजस्थान से लगे इलाके पर भी सैनिक जमाव कर रखा था। अप्रैल के अन्तिम सप्ताह में 25 मील लम्बे मोर्चे पर 6 मील अन्दर घुसकर पूरे ब्रिगेड के साथ बर्बर हमला किया था। शास्त्रीजी उन दिनों नेपाल-यात्रा से लौटकर आए थे। शक्ति का जवाब शक्ति से देने का संकल्प धारण करते हुए भी उन्होंने हर अवसर पर यही कहा कि पड़ोसी देश से युद्ध करना किसी के हित में नहीं होता। काहिरा-यात्रा से लौटते समय जब वे कराची में पाकिस्तान के राष्ट्रपति से मिले थे तो उन्होंने यह आश्वासन दिया था कि सीमा पर होने वाली

घटनाएं बन्द होनी चाहिए क्योंकि इनसे दोनों देशों को लाभ नहीं होगा। उन्होंने यह भी आश्वासन दिया था कि वे झगड़ों को मिटाने के लिए बातचीत तो करना चाहते हैं, लेकिन चुनाव में फंसे होने के कारण वैसा करने की स्थिति में नहीं हैं। मुंह में सुदा और बगल में छुरी लेकर पाकिस्तान ने जनवरी मास में कंजरकोट पर कब्जा कर लिया था। मार्च तक उसने भारतीय सीमा में घुसकर तेरह मील अगंगज अन्दर दो चौकियों पर कब्जा कर लिया था। मार्च महीने में दाहग्राम विवाद को हल करने के लिए उसने भारत के चारसूत्री प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया था, परन्तु कुचक्र यह था कि आक्रमण करके जितनी भी भूमि को वह अपने अधिकार में कर लेगा, उतना ही स्थान विवादास्पद बन जाएगा।

भारत उस समय चारों ओर से मुसीबत में फंसा हुआ था। चीनी सरकार की शह से पाकिस्तान अपने दावों को तूल देता जा रहा था। कच्छ के युद्ध में अमरीकी शस्त्रास्त्रों का प्रयोग हो रहा था, लेकिन अमरीकी सरकार लड़ाई बन्दी की अपीलें कर रही थी। और पाकिस्तान की सेना नियमित युद्ध के पैमाने पर हमले कर रही थी। शास्त्रीजी ने 16 अप्रैल को चंबल नदी पर वेनघाट पर बने पुल का उद्घाटन करते हुए कहा था कि "हम एक इंच भूमि भी किसी को हथिया लेने का मौका नहीं देंगे!" फिर भी संसद में शास्त्रीजी को मुर्गी के दिलवाला कहा गया। विरोधी दल रोष के साथ कह रहे थे कि सरकार युद्धविराम का ऐसा कोई प्रस्ताव स्वीकार न करे, जिससे एक इंच भूमि भी पाकिस्तान को देनी हो।

संसद में शास्त्रीजी ने बड़े धीरज के साथ उत्तर दिया था कि "प्रतिपक्ष के कुछ सदस्य देश की प्रतिष्ठा के लिए सबसे अधिक चिन्तित दिखाई पड़ते हैं, यह बात हम नहीं मान सकते; पर सरकार को चलाने की जिम्मेदारी हमपर है। हमें भी कुछ पता है और हमें भी खयाल है कि देश की इज्जत किसमें है।" उन्होंने इस रोषपूर्ण वातावरण में भी अपना संयम नहीं खोया और संसद के समक्ष उस पत्र का जिक्र किया, जो ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने उन्हें और पाकिस्तान के राष्ट्रपति को लिखा था। भारत सरकार ने 12 अप्रैल को ही युद्धविराम करने और वार्ता करने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था। पाकिस्तान चाहता था कि समझौते [illegible]

विराम हो जाए और दोनों देश अपनी सेनाएं पीछे हटा लें। शास्त्रीजी ने पुनः स्पष्ट किया कि यथापूर्व स्थिति को कायम करने के लिए एक ही साथ समझौता हुए बिना कच्छ के रन में कोई युद्धविराम नहीं हो सकता।

आखिरकार ब्रिटिश प्रधानमन्त्री के मूल प्रस्ताव के आधार पर दोनों देशों के बीच 30 जून, सन् 1965 को समझौता हो गया।

समझौते के अनुसार पाकिस्तानी सेना भारत द्वारा बताई गई कच्छ की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा के दूसरी ओर चली जाएगी, इसका अर्थ है कि पाकिस्तानी सेना भारतीय क्षेत्र की सभी चौकियों से हट जाएगी। भारतीय पुलिस बाड़पेट की चौकी पर पुनः अधिकार कर लेगी।

युद्धविराम के तुरन्त बाद दोनों देशों के अधिकारियों की बैठक होगी जो इस समझौते को लागू करने में आई कठिनाइयों को दूर करेगी। अधिकारियों के काम के लिए एक मास की अवधि दी गई है। उसके बाद दोनों देशों के मन्त्रियों की बैठक होगी और उसमें सीमा निर्धारित करने के बारे में फैसला किया जाएगा। यदि युद्धविराम के दो महीने बाद तक मन्त्रियों में फैसला नहीं हो सका तो दोनों सरकारें तीन सदस्यों का एक ट्रिब्यूनल नियुक्त करेंगी।

इस ट्रिब्यूनल का एक सदस्य भारत नियुक्त करेगा तथा दूसरा पाकिस्तान। लेकिन यह दोनों सदस्य भारत या पाकिस्तान के नागरिक नहीं होंगे। ट्रिब्यूनल का अध्यक्ष दोनों सरकारें मिलकर संयुक्त रूप से बनाएंगी। यदि अध्यक्ष के बारे में दोनों सरकारें फैसला न कर सकें तो राष्ट्रसंघ के महासचिव से अध्यक्ष नामजद करने के लिए कहेंगी।

ट्रिब्यूनल का निर्माण युद्धविराम के चार महीने के अन्दर हो जाना चाहिए तथा ट्रिब्यूनल का फैसला दोनों देशों की सरकारों को अनिवार्य रूप से लागू करना होगा।

समझौता अविकल रूप में इस प्रकार है:

धारा 1: पहली जुलाई, 1965 को दोपहर से युद्धविराम होगा

धारा 2: (1) दोनों ओर की सेनाएं शीघ्र पीछे हटना शुरू कर देंगी।

(2) यह कार्य सात दिन में पूरा हो जाएगा।

(3) तब भारतीय पुलिस बाड़पेट चौकी संभाल लेगी और इस

पुलिस दल की संख्या 31 दिसम्बर, 1964 की संख्या से अधिक नहीं होगी।

(4) भारतीय और पाकिस्तानी पुलिस उस पट्टी पर गश्त लगाने लगेगी, जिसपर वह 1 जनवरी, 1965 को गश्त लगाती थी। गश्त की संख्या भी 1 जनवरी, 1965 की संख्या से अधिक नहीं होगी। बरसात में गश्त 1964 की बरसात के दौरान की गश्त से अधिक नहीं होगी।

(5) यदि भारतीय और पाकिस्तानी पुलिस का संपर्क हो तो वे एक-दूसरे के मार्ग में हस्तक्षेप नहीं करेंगे और 1960 के पश्चिमी पाकिस्तान भारत-सीमा नियमावली के अनुसार आचरण करेंगे।

(6) युद्धविराम के तत्काल बाद दोनों सरकारों के अधिकारी मिलेंगे और फिर उक्त (3 से 5 तक के) पैराग्राफों में दी गई व्यवस्था को लागू किए जाने के सम्बन्ध में उत्पन्न समस्याओं पर विचार करने के लिए समय-समय पर मिलते रहेंगे।

धारा 3 : यह देखते हुए कि :

(अ) भारत का दावा है कि कोई क्षेत्रीय विवाद नहीं है क्योंकि कच्छ के रन के उत्तरी किनारों से लगी सीमा जो अविभाजित भारत के नक्शों में अंकित है निर्विवाद और मान्य सीमारेखा है और केवल स्थानीय सीमांकन करना शेष है।

(ब) पाकिस्तान का दावा है कि कच्छ के रन में भारत और पाकिस्तान के बीच की सीमा 24वीं समानान्तर के साथ-साथ जाती है जो कि विभाजन के पूर्व और विभाजन के बाद के दस्तावेजों से स्पष्ट है, इसलिए करीब 3500 वर्गमील इलाका विवादास्पद है।

(स) 1960 में हुई बातचीत में दोनों सरकारों के मन्त्री इस बात पर सहमत हो गए थे कि कच्छ-सिन्ध सीमान्त के बारे में और आंकड़े इकट्ठे किए जाएं और इस विवाद को सुलझाने के लिए बाद में और बातचीत की जाए।

1—धारा 2 (6) में उल्लिखित काम समाप्त करने के तुरन्त बाद—यह कार्य युद्धविराम के एक मास के भीतर ही पूरा करना होगा—दोनों सरकारों के मन्त्रियों की बैठक होगी। इस बैठक में अपने-अपने दावों

के आधार पर सीमा निर्धारण' और सीमांकन के बारे में वे समझौता करेंगे। इस बैठक में और नीचे दी धारा 3 (5) (4) में उल्लिखित ट्रिब्यूनल के सामने प्रत्येक सरकार अपना पक्ष प्रस्तुत करने और उसकी पूरी पुष्टि करने को स्वतन्त्र होगी।

2—युद्धविराम से दो मास के भीतर यदि दोनों सरकारों के मन्त्रियों में सीमा निर्धारण के बारे में कोई समझौता नहीं होगा तो 4 अक्तूबर, 1959 की संयुक्त विज्ञप्ति के अनुसार दोनों सरकारें नीचे (3 में) उल्लिखित ट्रिब्यूनल से अपने दावों के अनुसार सीमा निर्धारण के लिए मांग कर सकती हैं। वे अपने दावों के प्रमाण भी ट्रिब्यूनल के सामने प्रस्तुत करेंगी। ट्रिब्यूनल का निर्णय अन्तिम होगा और दोनों पक्ष उसे मानने के लिए बाध्य होंगे।

3—इस उद्देश्य के लिए युद्धविराम से तीन मास के भीतर ही एक ट्रिब्यूनल स्थापित किया जाएगा। इसमें तीन सदस्य होंगे जिनमें से एक भी भारत अथवा पाकिस्तान का नागरिक नहीं होगा। दोनों सरकारें एक-एक सदस्य मनोनीत करेंगी और तीसरा सदस्य जो कि अध्यक्ष होगा दोनों सरकारों द्वारा संयुक्त रूप से चुना जाएगा। यदि युद्धविराम से तीन मास की अवधि के भीतर दोनों सरकारें अध्यक्ष के नाम के बारे में सहमत न हो पाएंगी तो राष्ट्रसंघ के महासचिव को अध्यक्ष मनोनीत करने के लिए कहेंगी।

ऊपर (3 में) लिखित ट्रिब्यूनल का निर्णय दोनों सरकारों के लिए मानना अनिवार्य होगा। और किसी भी आधार पर निर्णय के बारे में आपत्ति नहीं उठाई जाएगी। दोनों सरकारों के लिए ट्रिब्यूनल का निर्णय यथासंभव शीघ्र से शीघ्र लागू करवाना जरूरी होगा। यदि इन निर्णयों को लागू करने के बारे में कोई कठिनाई पैदा हुई तो वे ट्रिब्यूनल को फैसले के लिए दिए जाएंगे। इस उद्देश्य से ट्रिब्यूनल को निर्णय लागू होने के समय तक विघटित नहीं किया जाएगा।

कच्छ समझौते का स्वागत देश द्वारा जैसा होना चाहिए था नहीं हुआ। जनता के एक वर्ग ने उसे ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की कूटनीति का शिकार होना बताया। अनेक स्थानों पर प्रतिपक्षी दलों ने उसकी मुखाल-

पक्ष में आन्दोलन चलाए। इन आन्दोलनों से शांति में लालबहादुर शास्त्री की निष्ठा डिगी नहीं। प्रधानमन्त्री-पद ग्रहण करने के बाद उन्होंने राष्ट्र के नाम अपने प्रथम सन्देश में कहा, "परराष्ट्र नीति में हम सभी देशों से, चाहे उनके विचार और राजनीतिक प्रणाली हमसे भिन्न हों, मित्रता रखने और सम्बन्ध बढ़ाने का प्रयत्न करते रहेंगे। हमारी नीति अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों से अलग रहने की रही है और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में हमारा रुख और दूसरे देशों के साथ हमारा सम्बन्ध इसी बुनियादी नीति पर आधारित होगा। अपने पड़ोसी देशों से हम अपने सम्बन्ध बढ़ाने का विशेष प्रयत्न करेंगे। अपने अधिकांश पड़ोसी मित्रों से हमारा सम्बन्ध मित्रता और सहयोग का है। कुछ देशों के साथ कुछ मतभेद हैं। इन्हें हम शान्ति और मेल से, न्याय और आत्मसम्मान के आधार पर सुलझाने का प्रयास करेंगे।"

शास्त्रीजी ने अपनी सरकार के सामने दो ही लक्ष्य स्थापित किए थे। एक यह कि देश के विभिन्न वर्गों में एकता स्थापित हो और अपनी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए देश आत्मनिर्भर हो जाए। लाल किले से 15 अगस्त, 1965 को उन्होंने राष्ट्र के नाम सन्देश में कहा था कि "हम रहें या न रहें यह झण्डा रहना चाहिए और मुझे विश्वास है कि यह झण्डा रहेगा; हम और आप रहें या न रहें, लेकिन भारत का सिर ऊंचा होगा। भारत दुनिया के देशों में एक बड़ा देश होगा और शायद दुनिया को कुछ दे भी सके।"

इस देश को इस योग्य बनाने के लिए, कि आत्मनिर्भर होकर अपनी पार्थिव और आध्यात्मिक शक्ति को पुनः प्राप्त करके एक नया सन्देश दे सके, उन्होंने अपने जीवन की प्रत्येक सांस का प्रयोग किया। 1964 के अक्तूबर मास में उन्होंने मुख्यमन्त्रियों के सम्मेलन में मुनाफाखोरों के लिए कठोर व्यवस्था करने पर ज़ोर दिया। शास्त्रीजी की नज़र से कुछ छिपा नहीं था। फिर भी उनकी नीति दमन और उत्पीड़न की नहीं थी। राष्ट्रीय संकट के दिनों में उन्होंने अपनी सरकार से वे सभी उपाय करने का आग्रह किया जिनके ज़रिये छिपा हुआ सोना बाहर आ जाए, चोरी से बचाया हुआ आय-कर काले तहखानों से निकल बाहर आ जाए और उसके

सुपरिणाम भी सामने आए।

कोई नहीं जानता था कि लालबहादुर शास्त्री धीरे-धीरे एक युद्ध-नेता के रूप में विकसित हो रहे हैं। किसी देश पर विजय प्राप्त करना उनका उद्देश्य नहीं था, वरन किसी देश के आक्रमण को सहन करना, और 1962 चीन-युद्ध के अनिर्णीत परिणाम को पुनः दोहराये जाने को राष्ट्रीय मनोबल के लिए वे व्याघात मानते थे। उन्हें यह भी मालूम था कि चीन ने पाकिस्तान के साथ सीमा-समझौता करके लद्दाख के लिए हमेशा के लिए एक ऐसा शत्रु खड़ा कर दिया है, जो अवसर आने पर इस इलाके को भारत से विच्छिन्न करने में उसकी सहायता कर सकता है। श्रीनगर-लेह राजपथ, जो भारत और लद्दाख को मिलाता है, ऐसे क्षेत्रों से गुजरता है, जहां से पाकिस्तानी चौकियां नजदीक पड़ती हैं। वे चाहे जब हमारे रसद और सैनिक-सामग्री पहुंचाने वाले काफलों पर आक्रमण कर सकते हैं। 16 मई, 1965 को इसी राजमार्ग पर कब्जा करने के लिए करगिल से पाकिस्तानी आक्रान्ता आगे बढ़े और अन्धाधुन्ध गोलीबारी करके युद्ध-विराम रेखा से 8 सौ मीटर तक भारतीय क्षेत्र में घुस आए थे।

यह स्थान दुर्गम पहाड़ियों से घिरा है जिसकी ऊंचाई 12, 13 और 24 हजार फुट तक है। रक्षा मन्त्रालय के सामने यह सवाल आया कि श्रीनगर-लेह सड़क पर हमेशा प्रतिरक्षात्मक कारवाई की जाए अथवा उसका इलाज खोजा जाए। शास्त्रीजी चाहते तो चुप रह सकते थे। वे चुप नहीं रहे। परिणाम यह हुआ कि मेजर रणधावा के नेतृत्व में भारतीय सेना ने पहाड़ी युद्ध के कौशल, वीरता और दुर्दमनीय साहस का परिचय दिया और पाक की करगिल चौकी पर कब्जा कर लिया। उनका तर्क यही था कि अगर संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रेक्षक हमारी सूचनाओं के बावजूद किन्हीं कारणों से युद्धविराम रेखा की मर्यादा को कायम नहीं रख सकते तो भारत अपनी सहायता स्वयं कर सकता है। 14 हजार फुट ऊंचा काला पहाड़, जो करगिल को सुरक्षित बनाए था, भारतीय सेनाओं ने रौंद डाला। ब्रिटिश और अमरीकी विदेश विभाग पुनः नींद से जागे। संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव ने भारत सरकार से अपीलें करना शुरू कर दिया। अन्ततः 30 जून, 1965 को भारत ने करगिल को खाली कर दिया। संयुक्त राष्ट्र-

संघ को यह आश्वासन देना पड़ा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रेक्षक पाकिस्तानी गतिविधियों पर नज़र रखेंगे और श्रीनगर-लेह राजमार्ग को किसी प्रकार की हानि नहीं होने देंगे।

प्रश्न उठता है कि क्या इस आक्रमण का उद्देश्य केवल यह था कि कश्मीर में उथल-पुथल पैदा करके उसपर मुजाहिदों द्वारा आक्रमण करा दिया जाए? नहीं।

भारत के प्रधानमन्त्री के सामने यह समस्या केवल प्रतिरक्षा समस्या बनकर नहीं आई थी। उनके सामने यह सवाल था कि सागपात खानेवाले देश के धोतीधारी प्रधानमन्त्री के बारे में पाकिस्तान और उसके मित्र पश्चिमी राष्ट्रों को यह गुमान था कि भारत इस धक्के के सामने बिखर जाएगा।

पाकिस्तानी 'बाज' यह अनुभव करते थे कि धर्म के नाम पर भारतीय मुसलमान पाकिस्तान के पक्ष में विद्रोह कर उठेंगे। कश्मीर के मुसलमान विद्रोह कर उठेंगे और भारतीय फौज के सक्रिय होने से पहले ही कश्मीर पर पाकिस्तान का कब्ज़ा हो जाएगा।

पश्चिमी समाचारपत्रों के युद्ध संवाददाता कच्छ के संघर्ष के दौरान यह लिख चुके थे कि पाकिस्तानी सेना अपनी श्रेष्ठ रणसज्जा के सहारे भारतीय सेना को गाजर-मूली की तरह काट डालेगी।

अमरीका के राष्ट्रपति ने लालबहादुर शास्त्री को निमन्त्रित करके, उसे स्थगित कर दिया था, क्योंकि वे अनुभव करते थे कि इतना क्षुद्र देश जिसकी कोई सैनिक हैसियत नहीं, वह वियतनाम में अमरीकी नीति की आलोचना करके 1955 के इण्डो-चाइना युद्ध में नेहरू ने जिस करार को समर्थन दिया था, उसीको दोहराने की जुर्रत करता है; अमरीका द्वारा उत्तरी वियतनाम पर बमबारी को शान्ति का घातक मानता है।

ब्रिटिश सरकार को यह गुमान था कि भारत किसी भी उत्तेजना के मुकाबले में युद्धविराम रेखा को पार नहीं कर सकेगा और करेगा तो अमरीकी पैटनटैंक और स्वर-वेधी सैबरजैट उसे तहस-नहस कर देंगे।

चीन-युद्ध के दौरान भारत को अस्थायी प्रतिकूलता का अपमान भोगना पड़ा था, उसे पश्चिमी राष्ट्रों ने अपने दिमाग में गहरा बैठा लिया था।

सुपरिणाम भी सामने आए।

कोई नहीं जानता था कि लालबहादुर शास्त्री धीरे-धीरे एक युद्ध-नेता के रूप में विकसित हो रहे हैं। किसी देश पर विजय प्राप्त करना उनका उद्देश्य नहीं था, वरन किसी देश के आक्रमण को सहन करना, और 1962 चीन-युद्ध के अनिर्णीत परिणाम को पुनः दोहराये जाने को राष्ट्रीय मनोबल के लिए वे व्याघात मानते थे। उन्हें यह भी मालूम था कि चीन ने पाकिस्तान के साथ सीमा-समझौता करके लद्दाख के लिए हमेशा के लिए एक ऐसा शत्रु खड़ा कर दिया है, जो अवसर आने पर इस इलाके को भारत से विच्छिन्न करने में उसकी सहायता कर सकता है। श्रीनगर-लेह राजपथ, जो भारत और लद्दाख को मिलाता है, ऐसे क्षेत्रों से गुजरता है, जहां से पाकिस्तानी चौकियां नजदीक पड़ती हैं। वे चाहे जब हमारे रसद और सैनिक-सामग्री पहुंचाने वाले काफलों पर आक्रमण कर सकते हैं। 16 मई, 1965 को इसी राजमार्ग पर कब्जा करने के लिए करगिल से पाकिस्तानी आक्रान्ता आगे बढ़े और अन्धाधुन्ध गोलीबारी करके युद्ध-विराम रेखा से 8 सौ मीटर तक भारतीय क्षेत्र में घुस आए थे।

यह स्थान दुर्गम पहाड़ियों से घिरा है जिसकी ऊंचाई 12, 13 और 24 हजार फुट तक है। रक्षा मन्त्रालय के सामने यह सवाल आया कि श्रीनगर-लेह सड़क पर हमेशा प्रतिरक्षात्मक कार्रवाई की जाए अथवा उसका इलाज खोजा जाए। शास्त्रीजी चाहते तो चुप रह सकते थे। वे चुप नहीं रहे। परिणाम यह हुआ कि मेजर रणधावा के नेतृत्व में भारतीय सेना ने पहाड़ी युद्ध के कौशल, वीरता और दुर्दमनीय साहस का परिचय दिया और पाक की करगिल चौकी पर कब्जा कर लिया। उनका तर्क यही था कि अगर संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रेक्षक हमारी सूचनाओं के बावजूद किन्हीं कारणों से युद्धविराम रेखा की मर्यादा को कायम नहीं रख सकते तो भारत अपनी सहायता स्वयं कर सकता है। 14 हजार फुट ऊंचा काला पहाड़, जो करगिल को सुरक्षित बनाए था, भारतीय सेनाओं ने रौंद डाला। ब्रिटिश और अमरीकी विदेश विभाग पुनः नींद से जागे। संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव ने भारत सरकार से अपीलें करना शुरू कर दिया। अन्ततः 30 जून, 1965 को भारत ने करगिल को खाली कर दिया। संयुक्त राष्ट्र-

संघ को यह आश्वासन देना पड़ा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रेक्षक पाकिस्तानी गतिविधियों पर नज़र रखेंगे और श्रीनगर-लेह राजमार्ग को किसी प्रकार की हानि नहीं होने देंगे।

प्रश्न उठता है कि क्या इस आक्रमण का उद्देश्य केवल यह था कि कश्मीर में उथल-पुथल पैदा करके उसपर मुजाहिदों द्वारा आक्रमण करा दिया जाए ? नहीं।

भारत के प्रधानमन्त्री के सामने यह समस्या केवल प्रतिष्ठा समस्या बनकर नहीं आई थी। उनके सामने यह सवाल था कि सागपात खानेवाले देश के धोतीधारी प्रधानमन्त्री के बारे में पाकिस्तान और उसके मित्र पश्चिमी राष्ट्रों को यह गुमान था कि भारत इस धक्के के सामने बिखर जाएगा।

पाकिस्तानी 'बाज़' यह अनुभव करते थे कि धर्म के नाम पर भारतीय मुसलमान पाकिस्तान के पक्ष में विद्रोह कर उठेंगे। कश्मीर के मुसलमान विद्रोह कर उठेंगे और भारतीय फौज के सक्रिय होने से पहले ही कश्मीर पर पाकिस्तान का कब्ज़ा हो जाएगा।

पश्चिमी समाचारपत्रों के युद्ध संवाददाता कच्छ के संघर्ष के दौरान यह लिख चुके थे कि पाकिस्तानी सेना अपनी श्रेष्ठ रणसज्जा के सहारे भारतीय सेना को गाजर-मूली की तरह काट डालेगी।

अमरीका के राष्ट्रपति ने लालबहादुर शास्त्री को निमन्त्रित करके, उसे स्थगित कर दिया था, क्योंकि वे अनुभव करते थे कि इतना क्षुद्र देश जिसकी कोई सैनिक हैसियत नहीं, वह वियतनाम में अमरीकी नीति की आलोचना करके 1955 के इण्डो-चाइना युद्ध में नेहरू ने जिस करार को समर्थन दिया था, उसीको दोहराने की जुर्रत करता है; अमरीका द्वारा उत्तरी वियतनाम पर बमबारी को शान्ति का घातक मानता है।

ब्रिटिश सरकार को यह गुमान था कि भारत किसी भी उत्तेजना के मुकाबले में युद्धविराम रेखा को पार नहीं कर सकेगा और करेगा तो अमरीकी पैटनटैंक और स्वर-वेधी सेबरजेट उसे तहस-नहस कर देंगे।

चीन-युद्ध के दौरान भारत को अस्थायी प्रतिकूलता का अपमान भोगना पड़ा था, उसे पश्चिमी राष्ट्रों ने अपने दिमाग में गहरा बैठा लिया था।

यही कारण था कि पाकिस्तान के चीन के साथ मैत्री कर लेने पर भी भारत को तरजीह नहीं दी जा रही थी क्योंकि वे मानते थे कि पाकिस्तान अधिक शक्तिशाली, पुष्ट और विश्वसनीय है।

उन्हें यह बात कभी पसन्द नहीं आई कि दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अधिक धाक जमानेवाले मार्शल टीटो, अब्दुल जमाल नासिर, एन्क्रूमा, सुकर्ण और सेकूटोरे जैसे आग्नेय नेताओं में लालबहादुर शास्त्री का भी नाम जुड़ जाए। क्योंकि लालबहादुर शास्त्री ने राष्ट्रपति जानसन के कुछ ही दिन बाद अमरीका-यात्रा के निमन्त्रण को अस्वीकार करके भारतीय स्वाभिमान को प्रतिष्ठित किया था।

भारत की शान्तिप्रिय नीति को अब तक दुर्बलता का सूचक माना जा रहा था। यह स्वीकार कर लिया गया था कि नेहरू के बाद देश को एकता के सूत्र में बांधने की शक्ति किसी दूसरे भारतीय में नहीं है।

चीन की चुनौतियों से डरकर भारत अपना कश्मीर पाकिस्तान को दे देगा, ताकि वे उसे उसकी गोद से निकालकर फिर अपनी गोद में बैठा सकेंगे। लालबहादुर के सामने केवल कश्मीर से मुजाहिदों को निकाल बाहर करना नहीं था, वरन् अन्दर और बाहर दोनों स्थानों पर निराशा, असमर्थता, दुर्बलता, धिक्कार, अपमान से भरे हुए वातावरण के खिलाफ खड्गहस्त होना था और यह काम आसान नहीं था।

पाकिस्तान की तैयारियां एक दिन के लिए भी रुकी नहीं थीं। जामनगर में 7 सितम्बर को पाकिस्तानी कैनबरा बम्बार के मार गिराए जाने पर उसके चालक की डायरी में 15 अप्रैल को जो ताकीद दर्ज की गई थी, उसमें जामनगर, आदमपुर, हलवाड़ा, अम्बाला, पालम, आगरा और भुज पर प्रशिक्षण उड़ानें भरने का काम सौंपा गया था। 11 जून को सदर अय्यूब का फरमान जारी हुआ था कि 15 वर्ष की आयु से ऊपर के लड़कों को लाजमी फौजी तालीम दी जाए। 26 मई को पाकिस्तानी मेजर जनरल अख्तर हुसैन मलिक की देखरेख में घुसपैठियों का प्रशिक्षण शुरू हुआ। कप्तान या मेजर के कमान में इन सशस्त्र घुसपैठियों की आठ कम्पनियां तैयार हुईं जिनके नाम रखे गए—खालिद, खिलजी, सलाहुद्दीन, कासिम, गजनवी और बाबर। इन टुकड़ियों के नायकों के सामने मुरी में सदर

अय्यूब ने उत्तेजनापूर्ण भाषण किया था।

जुलाई मास के अन्त में इन मुजाहिदों को धीरे-धीरे युद्धविराम रेखा के पार उतारना शुरू कर दिया गया। 4 अगस्त को मोहम्मददीन नाम के एक गुज्जर से मुजाहिदों की एक टुकड़ी गुलमर्ग के ऊपर दरक्मी चरागाह में मिली। उसे 4 सौ रुपये की उजरत देकर पथ-प्रदर्शक के रूप में उसकी 'सेवाएं' खरीदने का प्रस्ताव किया गया, लेकिन गुज्जर मोहम्मददीन इतने अधिक मुसल्लह बाहरी लोगों को देखकर चौंक उठा। उसका पहला काम था तन्मर्ग थाने में इन घुसपैठियों के बारे में खबर देना।

इस स्थान से 50 मील नीचे वे एक दूसरे कश्मीरी नागरिक वज़ीर मोहम्मद से मिले। मेंढर क्षेत्र में गुल्हाठी के पास एक गांव में रहनेवाला वज़ीर मोहम्मद भी इन घुसपैठियों को देखकर घबराया और उसने सैनिक पड़ाव में उनकी उपस्थिति की सूचना पहुंचा दी।

श्रीनगर को सूचना दे दी गई। घुसपैठियों की खोज जारी हो गई। पाकिस्तानी षड्यंत्र के कफन में दो कश्मीरी देशभक्त मुसलमानों ने आखिरी कील ठोंक दी।

घुसपैठियों की योजना यह थी कि 1 और 5 अगस्त के बीच में घुसपैठिये चुने हुए केन्द्रों पर इकट्ठे होंगे। फिर घाटी में घुसकर जम्मू-श्रीनगर सड़क को काट डालेंगे। प्रत्येक वर्ष 8 अगस्त को घाटी के लोग पीर दस्तगीर साहब के उर्स में शरीक होने के लिए श्रीनगर जाते हैं। मुजाहिदों की योजना थी कि इस भीड़ में मिलकर वे श्रीनगर में दाखिल हो जाएंगे। 9 अगस्त को शेख अब्दुल्ला की गिरफ्तारी की वर्षगांठ मनाई जाती थी। इस अवसर पर 'जनमत संग्रह मोर्चा' और 'एक्शन कमेटी' की तरफ से शहर में प्रदर्शन किया जाना था। इस भीड़ में मिलकर ये सशस्त्र घुसपैठिये सशस्त्र विद्रोह करके रेडियो स्टेशन, हवाई अड्डे तथा अन्य महत्वपूर्ण केन्द्रों पर कब्जा करने वाले थे। एक दस्ता नीचे बढ़कर, और दूसरा ऊपर चढ़कर क्रमशः जम्मू-श्रीनगर और श्रीनगर-करगिल सड़कों पर कब्जा करके घाटी को बाहरी हस्तक्षेप से मुक्त करने वाले थे। इसके बाद स्थानीय 'मोर्चों' में से कुछ लोगों को लेकर 'क्रान्तिकारी परिषद्' का निर्माण किया जाना था। *9 अगस्त को श्रीनगर आकाशवाणी से 'कश्मीर की*

क्रांतिकारी परिषद्' की ओर से जंगे-आजादी के लिए पढ़े जानेवाले फ़र-मान का मसविदा तैयार करके रख लिया गया था।

एक बार फिर कश्मीरियों ने पाकिस्तान के हाथों अपना उद्धार किए जाने से इन्कार कर दिया। इस जेहाद के सिलसिले में पाकिस्तान की ओर से 1963 में चार सौ अड़तालीस बार, 1964 में पन्द्रह सौ बाईस बार और 1965 में प्रथम सात महीनों में अठारह सौ बार युद्धविराम रेखा का उल्लंघन किया गया था। संयुक्त राष्ट्रसंघीय प्रेक्षक दल के जनरल निम्मो ने संयुक्त राष्ट्रसंघीय महासचिव ऊ थान्त को अपनी रिपोर्ट में ब्यौरेवार पाकिस्तानी घुसपैठ का विवरण दिया था, लेकिन यह दुर्भाग्य था कि सुरक्षा परिषद् या ब्रिटिश-अमरीकी शिविर में भारतीय पक्ष को कभी नहीं सुना गया। बार-बार पाकिस्तान ने कश्मीर के मामले को सुरक्षा परिषद् में उठाया, जबकि शुरू से वही आक्रान्ता था। कश्मीर के प्रश्न पर कोई बातचीत न करने के संकल्प को भारत ने मुस्तैदी के साथ धारण किया तो आगे चलकर पाकिस्तान के विदेशमंत्री जुल्फिकार अली भुट्टो ने कहा, "भारतीय कुत्ते सुरक्षा परिषद् से चले गए, लेकिन कश्मीर से नहीं !" इस अपमानजनक आचरण के खिलाफ किसीने भी प्रतिवाद नहीं किया। अमरीका और ब्रिटेन के प्रतिनिधि चुपचाप बैठे रहे। उनके मस्तिष्क से पाकिस्तान को चीन के चंगुल से निकालने की बात अभी भी निकली नहीं।

लालबहादुर शास्त्री को केवल पाकिस्तान के खिलाफ लड़ना नहीं था, उनके सामने भारत की प्रतिष्ठा और उसके अस्तित्व को कायम रखने का सवाल था। कश्मीर से घुसपैठियों को खदेड़ने के साथ क्या उन स्थलों पर भी कब्जा किया जाए जहां से वे भारतीय प्रदेश पर आक्रमण करते थे? यह सवाल प्रतिरक्षा मंत्री और सेनापतियों के सामने था। लालबहादुर शास्त्री ने निर्णय किया कि हां।

भारतीय सेना ने पर्वतीय युद्ध के कौशल और शौर्य का परिचय देकर 28 अगस्त के प्रातः साढ़े दस बजे हाजीपीर पर किस तरह तिरंगा फह-राया, यह सैनिक इतिहास का ज्वलन्त उदाहरण था। यह वह दर्रा था जहां जून 1948 में हमारी फौजें अटक गई थीं, लेकिन इस बार पाकिस्तान

के भयंकर हमलों का मुंहतोड़ जवाब देकर भारतीय सेना ने 10 सितम्बर तक उड़ी-पुंछ पंक्ति को सीधा करके अपने अधिकार में ले लिया।

पाकिस्तान की चाल खुद ही मात खा गई थी।

पाकिस्तान ने पहली सितम्बर को प्रातः चार बजे छम्ब क्षेत्र पर जबर्दस्त आक्रमण कर दिया। उनका इरादा था कि इस इलाके में सैबर-जेट विमानों की रक्षा में उनके पैटन टैंक अखनूर और जम्मू पहुंचकर कश्मीर से भारत के रेल और सड़क मार्गों को खत्म कर देंगे। इरादा यह भी था कि कसूर-खेमकरन मोर्चा खोलकर अमृतसर को घेर लेंगे और ग्राण्ड ट्रंक रोड से सीधे दिल्ली पहुंच जाएंगे।

भारत की राजधानी में यह कल्पना नहीं की गई थी कि पाकिस्तान इतना भयानक कदम उठा सकता है। प्रारम्भ में छम्ब और खेमकरन-कसूर मोर्चे पर भारतीय सेना को पीछे हटना पड़ा। भारत के सामने फिर यह चुनौती आई कि क्या पाकिस्तान के खिलाफ केवल रक्षात्मक युद्ध किया जाए। महासचिव ऊ थान्त ने 2 सितम्बर को भारत और पाकिस्तान से युद्ध रोकने की अपील की। अगले दिन सुरक्षा परिषद् के सदस्यों के सामने उन्होंने कश्मीर के बारे में रिपोर्ट पेश करते समय यह असमर्थता प्रकट की कि वे पाकिस्तान से ऐसा कोई आश्वासन नहीं ले सकते कि वह युद्धविराम और युद्धविराम रेखा की प्रतिष्ठा करेगा।

फ्रांस के विदेशमंत्री मार्शल येन यी 4 सितम्बर को कराची पहुंचे और 6 घण्टों तक भुट्टो से कान्फ्रेंस करते रहे। 5 सितम्बर को अमृतसर पर सैबरजेटों से पाकिस्तान ने हमला किया। भारत द्वारा संकल्प धारण करने की घड़ी निकट आती गई। भारत के लघुआकार प्रधानमंत्री ने हिमालय से भी ऊंचे संकल्प धारण करने की चुनौती स्वीकार की। रक्षामंत्री और स्थल सेनापति ने उनके सामने पाकिस्तानी सेना की चाल का मानचित्र पेश कर दिया था। उन्होंने मुकाबले के लिए अपनी योजना भी रख दी थी, जिसके अनुसार भारतीय सेना को तिहरा मोर्चा कायम करके लाहौर की तरफ बढ़ना था। इस निश्चय के परिणाम से वे सुपरिचित थे।

उन्होंने अपना निर्णय दिया और कहा कि सैनिक दृष्टि से जो जरूरी है, वह किया जाए। फिर भारतीय सेना ने लाहौर पर आक्रमण किया।

ादरा इलाके में पाकिस्तान की बढ़ती हुई सेनाओं को रोकने के लिए दूसरा मोर्चा खोला गया। भारतीय सेनाएं लाहौर के फाटकों से जा टकराईं। पश्चिमी ताकतों ने फिर कहा कि भारत ने पाकिस्तान पर आक्रमण कर दिया। बहादुर भारतीय जवानों ने अपने शौर्य से पैटन टैंकों का कब्रिस्तान बना दिया। भारतीय वायुसेना ने अमरीकी सैवरजेटों का अभिमान ठंडा कर दिया। लघ्वाकार प्रधानमन्त्री ने यह साबित कर दिया कि वह चुनौती आने पर भारत की सोई वीरता को जगा सकता है।

विजय के उन्माद में कभी-कभी बड़े-बड़े दिमाग भी भ्रमित हो जाते हैं। लालबहादुर शास्त्री के साथ ऐसा कभी नहीं हुआ। उन्होंने तब के पूर्वी पाकिस्तान (बंगला देश) के खिलाफ कदम नहीं उठाया। उनका इरादा केवल यह प्रदर्शित करना था कि पाकिस्तान इस भ्रम से मुक्त हो जाए कि कश्मीर को हथियार के जोर से ले सकता है। उन्होंने अमरीकी सरकार को कहा कि वह पाकिस्तान को दिए अमरीकी शस्त्रास्त्रों का दुरुपयोग करने से रोके। ऐसा नहीं किया जा सका। भारतीय सेना ने पाकिस्तान के 260 पैटन टैंकों में से 245 को नष्ट कर दिया। पाकिस्तान के कुल 8 सौ से 1 हजार टैंकों में से एक तिहाई से आधे तक तो नष्ट हो गए या पकड़े गए। वायुसेना से भी पाकिस्तान को विभिन्न श्रेणियों के लड़ाकू विमानों की हानि उठानी पड़ी जिनमें 47 सैवरजेट भी शामिल थे। उनकी युद्ध शक्ति शिथिल पड़ती जा रही थी, जबकि भारत ने अपनी पूरी शक्ति का एक तिहाई भी इस्तेमाल नहीं किया था।

पाकिस्तान लड़खड़ाने लगा था। भारत का उद्देश्य इससे अधिक नहीं था। वह चाहता था कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव द्वारा की गई युद्ध-विराम की अपील को मंजूर कर ले। भारत 14 सितम्बर से ही युद्धविराम करने के लिए राजी हो गया था कि सहसा चीन की तरफ से 16 सितम्बर को एक अल्तिमेटम आया। चीन ने कहा कि सिक्किम-तिब्बत सीमा पर भारत ने तिब्बत में सैनिक अड्डे बना लिए हैं और उसके सैनिकों ने 59 याक तथा 8 सौ भेड़ें चुरा ली हैं। तीन दिन का वक्त भारत को दिया गया कि वह इन सैनिकों के अड्डों को गिरा दे तथा याक-भेड़ें लौटा दे। इस चाल के पीछे भारत को भयभीत करना और पाकिस्तान को उकसाना था।

लालबहादुर शास्त्री ने इस अन्तिमेत्थम के सामने झुकने की बजाय चीन के साथ भी निपटने का संकल्प प्रकट कर दिया। पाकिस्तान के घुटने टूट चुके थे। वह चीन से निराश हो गया। पाकिस्तान द्वारा युद्धविराम प्रस्ताव स्वीकार करते ही चीन ने घोषित किया कि भारत ने सैनिक अड्डे गिरा दिए हैं।

22 सितम्बर तक चीन के आक्रमण का इन्तज़ार करके जुल्फिकार अली भुट्टो ने शाम को युद्धविराम के लिए सहमति प्रकट की। वास्तविक युद्धविराम *23 सितम्बर के प्रातः 3 बजकर 30 मिनट पर हुआ। 22* दिन के आधुनिक महाभारत में लालबहादुर शास्त्री विजयी हुए। सुरक्षा परिषद् ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया कि दोनों देश 5 अगस्त वाली सीमा-रेखा पर वापस हो जाएं। संयोग से इस प्रस्ताव पर रूस ने भी सहमति-सूचक हस्ताक्षर किए थे।

युद्ध समाप्त होने के बाद भी बेचैनी निरन्तर बनी हुई थी। पिछले अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता था कि पाकिस्तान चाहे जब पुनः युद्ध आरम्भ कर सकता है। देश के सामने आन्तरिक एकता बनाए रखना और हर वक्त युद्ध के संकट के लिए तैयार रहना ज़रूरी था। लालबहादुर शास्त्री अपनी निस्सीम मानसिक और शारीरिक शक्ति का परिचय दे रहे थे। वे सभी राजनैतिक दलों का विश्वास प्राप्त कर चुके थे। भारतीय राष्ट्र का हर कील-कांटा दुरुस्त हो गया। भारतीय मुसल-मानों ने अपनी राष्ट्रीयता को सन्देह से ऊपर उठा दिया। भारतीय सेना के जवानों ने भारतमाता का हक अदा कर दिया। इन वीरों में अब्दुल हमीद जैसे तोपची भी थे, जिनने अकेले तीन पाकिस्तानी पैटन टैंकों को विध्वस्त करके परम वीरता का परिचय दिया। राष्ट्रीय प्रतिमा अपनी समग्रता को प्राप्त हो गई।

वे पश्चिमी राष्ट्र जो भारत को दुर्बल समझते थे, आश्चर्यचकित होकर हमारे पराक्रम को देखते रह गए। वास्तव में भारत-पाक युद्ध के बाद पहली बार पश्चिमी देशों ने यह अनुभव किया कि यह देश अब आज़ाद हो गया है और उसे प्रतिकूल शर्तों पर अपना अनुगामी नहीं बनाया जा सकता। लालबहादुर शास्त्री ने राष्ट्र की धमनियों में प्राण

फूंक दिए। उन्होंने 'जय जवान, जय किसान' के नारे को राष्ट्रीय चेतना का रूप दिया।

शास्त्रीजी की दृष्टि में देश की रक्षा-शक्ति और खाद्यान्न उत्पादन का सर्वाधिक महत्त्व था और उन्हें सबसे बड़ी चिन्ता यही थी कि रक्षा-शक्ति तथा खाद्यान्न उत्पादन के क्षेत्र में देश पूर्णतया आत्मनिर्भर बन जाए।

अपने भाषण में श्रीशास्त्री ने शान्ति की आवश्यकता पर भी बहुत ज़ोर दिया था। एक अवसर पर उन्होंने कहा था कि "आज मानव जाति के सामने सबसे बड़ी समस्या है शान्ति की स्थापना और निःशस्त्रीकरण। अगणित पीढ़ियों से मानवता को शान्ति की कामना है। राष्ट्रसंघ के सामने सबसे बड़ा काम यही नहीं है कि युद्ध का बहिष्कार किया जाए बल्कि यह भी कि युद्ध नाम की चीज़ को असम्भव बना दिया जाए।"

युद्ध के दौरान शास्त्रीजी ने एक महान युद्ध-नेता की तरह देश का मार्गदर्शन किया। अक्तूबर मास में वे अग्रिम सैनिक मोर्चों पर भी गए और वीर सेनानायकों का उन्होंने हौसला बढ़ाया। ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे अपने छात्र जीवन में महाभारत के पात्रों का अभिनय करने वाला बहादुर विद्यार्थी मंच से उठकर वास्तविक समर-भूमि में उतर आया है। वे जहां कहीं जाते जवानों में स्फूर्ति आ जाती। यह आश्चर्य की बात है कि इतने भयंकर क्षणों में भी उनका चेहरा गुलाब के फूल की तरह खिला रहता था। वे ही लोग जो फिल्मी पर्दे पर उनकी तस्वीरें देखकर हंसते थे, अब श्रद्धा व हर्षोन्माद में भरकर करतलध्वनि करते अघाते नहीं थे।

फिर भी वे जानते थे कि शान्ति ही मनुष्यता का स्थायी भाव है, मानवीय सुख एवं समृद्धि का एकमात्र साधन है। भारत के लिए यह शांति नितान्त आवश्यक थी। उन्होंने युद्धविराम के तत्काल बाद ही रूस के प्रधानमन्त्री कोसीगिन का आमन्त्रण स्वीकार कर लिया था कि वे उनकी मध्यस्थता में पाकिस्तान के राष्ट्रपति अय्यूब खां से मिलकर स्थायी शांति की खोज करेंगे। पाकिस्तानी राष्ट्रपति ने कोसीगिन का आमन्त्रण स्वीकार कर लिया, लेकिन उनकी ज़िद यही थी कि दोनों देशों के बीच झगड़े का कारण कश्मीर है। वार्ता में कश्मीर प्रश्न पर निर्णय होना ज़रूरी है।

लालबहादुर शास्त्री बार-बार यह घोषित कर चुके थे कि कश्मीर भारत का अभिन्न अंग है और वे किसी भी शर्त पर अपनी सार्वभौम सत्ता का समर्पण करने के लिए तैयार नहीं हैं।

आखिरकार वह दिन आया जब शास्त्रीजी ने यह स्वीकार किया कि वे ताशकंद जाकर रूसी प्रधानमन्त्री कोसीगिन की मध्यस्थता में प्रेसिडेंट अय्यूब से समझौते के बारे में बात करेंगे। 3 जनवरी को प्रधानमन्त्री ताशकंद वार्ता के लिए भारत से रवाना हुए। उनके साथ रक्षामन्त्री श्री यशवन्तराव चह्वाण और विदेशमन्त्री सरदार स्वर्णसिंह गए थे।

यह घोषणा रूस के प्रधानमन्त्री श्री एलेक्सेई कोसीगिन की महान कूटनीतिक विजय मानी गई। उन्होंने इस अभिशप्त वार्ता को पूरी तरह भंग होने की स्थिति से बचाकर बड़ी चतुराई और धैर्य से रातोंरात ऐसा समझौता तैयार करा लिया जो भारत-पाक गतिरोध को कम करने में महत्वपूर्ण सिद्ध हो।

प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री तथा राष्ट्रपति अय्यूब खां दोनों ने ही श्री कोसीगिन की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा कि शक्ति-प्रयोग के त्याग के प्रश्न पर पैदा हुए गतिरोध को भंग करने में उन्होंने असाधारण सूझ बूझ तथा राजनीतिक कुशलता का परिचय दिया।

उजबेक मन्त्रिमण्डलीय कक्ष में जहां 4 जनवरी को इस वार्ता का प्रारम्भ हुआ था, वहीं पर आयोजित एक ऐतिहासिक समारोह में श्री कोसीगिन की उपस्थिति में प्रधानमन्त्री श्री शास्त्री तथा राष्ट्रपति अय्यूब खां ने ताशकंद घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किए।

नई ताशकंद भावना को प्रतिबिम्बित करते हुए तीनों नेता मुस्कराते हुए एक-दूसरे से हाथ मिलाते हुए टेलीविजन कैमरा के सामने खड़े रहे। ताशकंद से प्रसारित टेलीविजन व्यवस्था द्वारा सारे यूरोप में इस समारोह को देखा गया तथा भारत-पाकिस्तान में इसका विवरण रेडियो पर सुना गया।

ताशकंद-घोषणा में कूटनीतिक सम्बन्ध पुनः स्थापित करने की, व्यापार तथा संचार-व्यवस्था पुनः प्रारम्भ करने की, जब्त की गई सम्पत्ति आदि लौटाने की, युद्धबन्दियों को लौटाने की, शत्रुतापूर्ण प्रचार बन्द करने

की तथा ऐसी स्थिति निर्माण करने की व्यवस्था की गई है जिससे भारत तथा पाकिस्तान के बीच लोगों का निष्क्रमण न हो।

पूरा दिन और रात में देर तक श्री कोसीगिन श्री शास्त्री तथा राष्ट्रपति अय्यूब से लगातार वार्ता करते रहे और रात में करीब ढेढ़ बजे शक्ति-प्रयोग न करने के बारे में पैदा हुए गतिरोध को भंग करने में सफल हुए। सारी रात अफसर वे समझौते के विभिन्न अंशों को एकत्र करने में लगे रहे। समझौते का अंतिम प्रारूप, उसपर हस्ताक्षर होने से करीब एक घण्टा पूर्व ही तैयार हुआ था।

(1) भारत के प्रधानमंत्री तथा पाकिस्तान के राष्ट्रपति इस विषय में सहमत हैं कि दोनों पक्ष संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र के अनुकूल आपस में अच्छे पड़ोसियों की तरह रहने का हर सम्भव प्रयास करें। राष्ट्रसंघीय घोषणापत्र के अनुसार, वे आपसी विवादों को निपटाने के लिए शक्ति-प्रयोग न करके शांतिपूर्ण उपायों को काम में लाने के अपने दायित्व को एक बार फिर स्वीकार करते हैं।

वे महसूस करते हैं कि भारत-पाक उपमहाद्वीपों में शांति स्थापना तथा दोनों की जनता का हित-साधन दोनों के बीच तनाव जारी रहने से संभव नहीं है। इसी पृष्ठभूमि में जम्मू-कश्मीर के प्रश्न पर बहस हुई और दोनों देशों के प्रतिनिधियों ने अपने-अपने पक्ष की स्थापना की।

(2) भारत के प्रधानमंत्री तथा पाकिस्तान के राष्ट्रपति इस बात पर भी सहमत हैं कि दोनों देश अपनी-अपनी सशस्त्र सेनाओं को 25 फरवरी, 1966 तक 5 अगस्त, 1965 की स्थिति पर वापस बुला लें और युद्धविराम रेखा पर कायम रहकर युद्धविराम की शर्तों को निभाएं।

(3) भारत के प्रधानमंत्री तथा पाकिस्तान के राष्ट्रपति इस बात पर सहमत हो गए हैं कि भारत और पाकिस्तान के आपसी सम्बन्ध एक-दूसरे के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति पर आधारित होंगे।

(4) भारत के प्रधानमंत्री तथा पाकिस्तान के राष्ट्रपति इस बात पर सहमत हैं कि दोनों पक्ष एक-दूसरे के विरुद्ध किए जा रहे हर किस्म के प्रचार को रोकेंगे और ऐसे प्रचार को प्रोत्साहन देंगे जिससे दोनों देशों

की जनता में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के विकास में सहायता मिले।

(5) भारत के प्रधानमंत्री तथा पाकिस्तान के राष्ट्रपति इस बात के लिए भी सहमत हो गए हैं कि पाकिस्तान में भारतीय उच्चायुक्त तथा भारत में पाकिस्तान के उच्चायुक्त, दोनों अपने-अपने पदों पर लौट जाएंगे और दोनों देशों के कूटनीतिक अभिकरण सामान्यरूपेण कार्य शुरू कर देंगे। कूटनीतिक सम्बन्धों के निर्वहण के सम्बन्ध में दोनों देश सन् 1961 के वियना-सम्मेलन के प्रस्तावों का पालन करेंगे।

(6) भारत के प्रधानमंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति दोनों देशों के बीच आर्थिक एवं व्यापार-सम्बन्धों, संचार-सेवाओं एवं सांस्कृतिक विनिमय को फिर से जारी करने के सम्बन्ध में कदम उठाने के लिए भी सहमत हो गए हैं। यही नहीं, भारत और पाकिस्तान दोनों के बीच वर्तमान समझौते को पूरा करने की दिशा में प्रयास करने के लिए दोनों नेता सहमत हैं।

(7) भारत के प्रधानमंत्री तथा पाकिस्तान के राष्ट्रपति इस बात पर भी सहमत हो गए हैं कि वे दोनों पक्षों के युद्धबंदियों के प्रत्यर्पण के सम्बन्ध में अपने-अपने पक्ष के सम्बद्ध अधिकारियों को निर्देश देंगे।

(8) भारत के प्रधानमंत्री तथा पाकिस्तान के राष्ट्रपति इस बात के लिए भी सहमत हो गए हैं कि दोनों पक्ष शरणार्थियों, निष्कासितों एवं अवैध देशान्तरण से सम्बद्ध समस्याओं पर वार्तालाप जारी रखेंगे। वे इस बात पर सहमत हैं कि दोनों देशों के लोगों के सामूहिक देशान्तरण को रोकने के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण करेंगे। दोनों नेता (हाल ही के) संघर्ष के सिलसिले में जब्त की गई सम्पत्ति एवं धन-माल आदि लौटाने के सम्बन्ध में भी बातचीत करने के लिए सहमत हो गए हैं।

(9) भारत के प्रधानमंत्री तथा पाकिस्तान के राष्ट्रपति इस बात पर भी सहमत हो गए हैं कि दोनों पक्ष आपसी हित के मामलों पर गौर करने के लिए उच्चतम स्तर पर एवं निचले स्तरों पर भी मिलते-जुलते रहेंगे। साझी समस्याओं के सम्बन्ध में आगे क्या-क्या कदम उठाए जाएं, इस मुद्दे पर निरन्तर प्रतिवेदन प्रस्तुत करते रहने के लिए दोनों पक्ष भारत-पाक के साझे संगठनों एवं समितियों की स्थापना की

पर भी सहमत हैं।

(10) भारत के प्रधानमंत्री तथा पाकिस्तान के राष्ट्रपति सोवियत संघ के नेताओं, सोवियत सरकार एवं व्यक्तिगत रूप से सोवियत संघ की मंत्री-परिषद के अध्यक्ष के प्रति, दोनों पक्षों (भारत व पाकिस्तान) के लिए संतोषप्रद सिद्ध होने वाली इस बैठक को बुलाने के लिए उनकी रचनात्मक मैत्रीपूर्ण और आदर्श भूमिका के लिए अपना आभार प्रकट करते हैं। वे उजबेकिस्तान की सरकार तथा जनता के प्रति भी सच्चे हृदय से, उनकी उदारतापूर्ण एवं भावभीनी मेहमाननवाजी के लिए अपना आभार प्रकट करते हैं। वे सोवियत संघ की मन्त्री-परिषद् के अध्यक्ष को इस घोषणापत्र के गवाह के रूप में आमन्त्रित करते हैं।

यह समझौता ऐसा नहीं था, जैसे उससे पूर्व भारत और पाकिस्तान के बीच हुए दूसरे समझौते थे। इस समझौते के अनुसार दोनों राष्ट्र एक-दूसरे की भूमि से पीछे ही नहीं हट जाएंगे, वे राजनयिक सम्बन्धों को पुनः प्रारम्भ करके घृणा और विद्वेषपूर्ण प्रचार के रास्ते से बिलकुल हट जाएंगे। दोनों देशों के मध्य सांस्कृतिक सद्भावना उत्पन्न करने के लिए पूरी कोशिश की जाएगी। राष्ट्रपति अय्यूब ने दिवंगत प्रधानमंत्री के शव के समक्ष खड़े होकर ये शब्द कहे हैं कि शास्त्रीजी अमन के लिए कुर्बान हो गए। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि दो देशों के ताल्लुकात इस बात पर निर्भर करते हैं कि उनके नेताओं के बीच कैसे ताल्लुकात रहते हैं। शास्त्री जी ने असम्भव दिखाई पड़ने वाली स्थिति को अपनी आत्मिक तेजोमयता से बदला है। यह परिवर्तन स्थायी होगा। दोनों देशों के बीच की समस्याओं को शक्ति का सहारा बिना लिए सुलझाने का अहद, सिर्फ एक हवाई बात नहीं है। समस्याएं अनेक हैं। उनके निराकरण के शान्तिपूर्ण मार्ग की खोज करने के लिए मन्त्रियों तथा सम्बन्धित अधिकारियों के स्तर पर निरन्तर बातचीत होगी। अतीत में दोनों देशों के मंत्रियों और अधिकारियों के बीच बातचीत हुई, लेकिन पाकिस्तान की ओर से ये बातें विफलता और विषमता उत्पन्न करने के लिए ही की जाती थीं। इस बार के समझौते के पीछे घनघोर लड़ाई का कड़वा तजुर्बा है, और अमन के लिए बेचैनी भी। पाकिस्तान द्वारा प्रकट की गई सद्भावना और सहकार

को एक बार फिर हार्दिकता के साथ स्वीकार करना चाहिए। संदेह और अविश्वास के रहने पर देश के जवानों और प्रधानमन्त्री की शहादतें अकारथ जा सकती हैं।

ताशकन्द घोषणा को स्वीकार न करने का विकल्प कोई था ही नहीं। श्री गुलजारी लाल नन्दा ने यह स्वीकार किया कि वे इस घोषणा का पूर्ण पालन करेंगे। लेकिन कांग्रेस सरकार के पालने से पूरी बात नहीं बन सकती। समझौते की सफलता के लिए हानि-लाभ का जायजा लेने से अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भावी सम्बन्धों के सुधार के लिए पूरा देश कैसा वातावरण बनाता है। विश्वास और सौहार्द का सम्बन्ध केवल, शासक दल द्वारा नहीं बनाया जा सकता। जनता द्वारा दिखाया गया सौहार्द वर्तमान काल के लिए ही नहीं भविष्य के लिए भी यह विश्वास पैदा करता है कि आज जिस चीज को सही माना जाता है, उसे कल भी सही माना जाएगा। समझौते को स्वीकार करते समय यदि, पाकिस्तान के सामने पश्चिमी ताकतों और रूस की सद्भावना खोकर पूर्णतः चीन पर निर्भर करने का खतरा था, तो भारत के सामने भी उससे कम खतरा नहीं है। आज की स्थिति की विषमता और कल के लिए अनुकूलता उत्पन्न करने का एक ही उपाय है कि ताशकन्द घोषणा का समूचा देश पालन करे। इसी भावना से अपने प्रधानमंत्री के महान बलिदान को प्रतिष्ठित किया जा सकता है और भारत शांति का सेनानी बनने का गौरव प्राप्त कर सकता है।

ताशकन्द वार्ता के रूप में राष्ट्रीय समृद्धि के राजपथ का निर्माण करने वाले लालबहादुर शास्त्री के लिए कोई अभिन्न नहीं था। वार्ता समाप्त होने पर लालबहादुर शास्त्री ने राष्ट्रपति अय्यूब खां से हाथ मिलाया और अत्यन्त सौहार्दपूर्वक एक-दूसरे से विदाई ली। कोसीगिन द्वारा दिए गए भोज के अवसर पर अय्यूब खां ने कहा था—

"खुदा हाफ़िज़ !"

"खुदा हाफ़िज़ !" शास्त्रीजी ने उत्तर दिया था। उन्होंने फिर कहा "अच्छा ही हो गया।"

"खुदा अच्छा ही करेगा !" अय्यूब खां ने उत्तर दिया था।

राष्ट्रपति अय्यूब खां ने कुछ बातें वार्ता के दौरान उठाई थीं, वे उनका जवाब जल्द से जल्द चाहते थे। शास्त्रीजी ने उन्हें जल्द से जल्द जवाब देने का वायदा किया था। उसके बाद दोनों ने सोवियत प्रधानमंत्री कोसीगिन और उजबेकिस्तान की राष्ट्रपति श्रीमती नसरुद्दीनोवा से हाथ मिलाए और अपने-अपने ठहरने के स्थान के लिए रवाना हो गए।

महाप्रयाण

सम्पूर्ण राष्ट्र उनके स्वागत की तैयारियां ही कर रहा था कि सहसा यह समाचार मिला कि हृदय की गति रुक जाने से लालबहादुर शास्त्री का देहावसान हो गया! ताशकन्द समझौते पर हस्ताक्षर किए केवल नौ घन्टे गुज़रे थे। रात्रि को उन्होंने एकाकी भोजन किया था। 11 बजे सोने चले गए। एक बजकर बीस मिनट पर उन्हें खांसी आई, कुछ बेचैनी महसूस हुई। तत्काल वे अपने चिकित्सक डा० चुग के कमरे में गए। यहां पहुंचते ही बेहोश हो गए। डा० चुग और सोवियत विशेषज्ञों ने शास्त्रीजी के प्राणों की रक्षा करने की सभी कोशिशें कीं, लेकिन उन्हें कामयाबी हासिल हो न सकी। डा० चुग के कमरे में पहुंचने के कुछ ही मिनट बाद वे संसार से चले गए।

यह समाचार भारत के लिए ही नहीं सम्पूर्ण विश्व के लिए वज्राघात के समान प्रतीत हुआ। ताशकन्द-यात्रा पर रवाना होने से पूर्व उनके दामाद कौशलकुमार ने पूछा था कि वापसी कब होगी तो शास्त्रीजी ने कहा था, "मुझे, पता नहीं कब लौटूंगा।" वे युद्ध के मैदान में गए तो देश का मस्तक विजयश्री से मण्डित करके ही चैन लिया। शांति का समर शस्त्रों से लड़े जानेवाले युद्ध से कहीं कठिन होता है। वे ऐसे राजपूत की तरह गए जो वापस न आने के लिए विदा होता है। उन्होंने कहा था, "अब हमें शांति के लिए उसी साहस और संकल्प के साथ संघर्ष करना है, जिससे हमने आक्रमणकारी का मुकाबला किया।"

उन्होंने अपना हर वचन पूरा किया। अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर

काल को गौरव का समय बना दिया। प्रतिभा और विवेक से युक्त, वक्त की चुनौती और संकट का सामना साहस के साथ करने वाले शास्त्रीजी मनुष्य के स्तर से उठकर फरिश्तों की श्रेणी में पहुंच गए। वे इतने विनम्र एवं शांतचित्त व्यक्ति थे कि उनसे मिलते ही ऐसा लगता था कि जीवन के कटु अनुभवों और हृदयहीन यथार्थों से उनकी रक्षा करने की आवश्यकता है।

देश और शांति का यह अनन्य सेवक जीवनपर्यन्त अपने लिए न जीकर दूसरों के लिए ही जिया। अन्तिम विदाई के समय उसके पास न धन था, न ज़मीन-जायदाद। आरम्भ से लेकर अंत तक श्रम, धीरज और तपस्या ही उसकी पूंजी थी। उस पूंजी को उसने दिल खोलकर लुटाया। यही पूंजी उसने अपने परिवार और मनुष्यता के लिए उत्तराधिकार के रूप में छोड़ी। भारतीय इतिहास में ऐसे महापुरुषों की संख्या बहुत कम ही है जिन्होंने इतने थोड़े समय में मनुष्यता के लिए इतनी अधिक उपलब्धियां प्राप्त की हों। दलितों, पीड़ितों और साधनहीन लोगों के लिए उनका जीवन-वृत्त अंधेरे में जलते हुए चिरागों की तरह जीवन के महान राजपथ की ओर संकेत करता रहेगा। मानव-बुद्धि को चकित कर देनेवाली क्षमताओं से सम्पन्न इस लघु आकार मानव के प्रति इतिहास सदैव कुतूहल से देखता रहेगा। उनके बाद कभी कोई आदमी अदना नहीं समझा जाएगा। अभागों के सौभाग्य-सूर्य को विपदाओं और अभावों के बादलों में से चमका देने वाले लालबहादुर शास्त्री की भारतमाता के उन छोटे पुत्रों में गणना की जाएगी, जो बुढ़ापे की टेक बनते हैं। वे चले गए, परन्तु उनकी प्रतिच्छवि मनुष्यता के अन्तस्थल में बस गई है। अत: वे गए नहीं, स्थूल से सूक्ष्म बनकर हमारे बीच अन्तर्धान हो गए हैं। क्योंकि आत्मा कभी मरती नहीं लालबहादुर सदैव अमर रहकर इतिहास के सन्धान को सदैव सुरक्षित करते रहेंगे।